बनाम जन
सुधीर विद्यार्थी
मन्मथनाथ गुप्त
पत्र और प्रतिवादतारं
सुधीर विद्यार्थी
भगत सिंह के बहाने
सुधीर विद्यार्थी
शहर आईना है
समय के तलघर में शब्द
सुधीर विद्यार्थी
सुधीर विद्यार्थी
अशफाक उल्ला और उनका युग
क्रान्ति की इबारतें
फतेहगढ़ डायरी
भूले-बिसरे क्रान्तिकारी
विप्लव राग
सुधीर विद्यार्थी से संवाद

बनास जन

साहित्य-संस्कृति का संचयन

विप्लव राग

साहित्यकार सुधीर विद्यार्थी से बिपिन तिवारी, अभिषेक गुप्ता और रोहताश का संवाद

परामर्श : प्रो. काशीनाथ सिंह, वाराणसी
डॉ. ममता कालिया, दिल्ली
डॉ. दुर्गाप्रसाद अग्रवाल, जयपुर
प्रो. माधव हाड़ा, उदयपुर
श्री महादेव टोप्पो, राँची

सम्पादक : पल्लव

सहयोग : गणपत तेली, भँवरलाल मीणा

सहयोग राशि : 50 रुपये (यह अंक)–डाक द्वारा मँगवाने पर–80 रुपये
100 रुपये (संस्थागत)–डाक द्वारा मँगवाने पर–130 रुपये
7000 रुपये–आजीवन (व्यक्तिगत)
12,000 रुपये–आजीवन (संस्थागत)

समस्त पत्र व्यवहार : पल्लव
393, डी.डी.ए., ब्लॉक सी एंड डी
कनिष्क अपार्टमेंट, शालीमार बाग, दिल्ली-110088
व्हाट्सएप : +91–8130072004 (केवल लिखित संदेश हेतु)
ई-मेल : banaasjan@gmail.com
वेबसाइट : www.notnul.com

कृपया रचनाएँ भेजने के लिए सिर्फ ई-मेल का उपयोग करें। आग्रह है कि इस संबंध में पूछताछ न करें। 'बनास जन' में सभी रचनाओं का स्वागत है।

नोट : प्रकाशित रचनाओं से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं।
संपादन एवं सह संपादन पूर्णतः अवैतनिक।
समस्त कानूनी विवादों का न्याय क्षेत्र दिल्ली न्यायालय होगा।

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक पल्लव द्वारा 393, डी.डी.ए., ब्लॉक सी एण्ड डी, कनिष्क अपार्टमेंट, शालीमार बाग, दिल्ली-110088 से प्रकाशित और सचदेवा आफसेट प्रिंटर्स, बी-39, झिलमिल इंडस्ट्रीयल एरिया, जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली-110095 से मुद्रित।

BANAAS JAN
Peer Reviewed Journal
(A Collection of Literature)

ISSN 2231–6558

अनुक्रम

अपनी बात	4
विप्लव राग	5
सुधीर विद्यार्थी : परिचय एवं पुस्तकें	67
साक्षात्कारकर्ताओं का परिचय	71

अपनी बात

जगहों के इर्द गिर्द लिखना नयी बात नहीं है। इतिहास और भूगोल के अलावा साहित्य के खाने में भी इलाहाबाद और काशी जैसे शहरों पर पचासों किताबें समय-समय पर दर्ज की गई हैं जिन्हें पढ़ना पाठकों को खासा भाता रहा है। क्या किसी खास जगह या शहर के दायरे में लिखने से उस जगह का अपना कोई खास चरित्र उभरकर आता है? वहाँ के इतिहास, भूगोल के परिप्रेक्ष्य में जीवन को देखने-समझने को कोई सर्वथा नई दृष्टि मिल जाती है? सुधीर विद्यार्थी के संस्मरण लेखन से गुजरते हुए इन सवालों का उठ खड़ा होना आकस्मिक नहीं है। सुधीर विद्यार्थी हिंदी साहित्य में बनारसीदास चतुर्वेदी के बाद अकेले लेखक हैं जिन्होंने स्वतन्त्रता के लिए चले विभिन्न क्रांतिकारी आंदोलनों के सम्बन्ध में खूब लिखा। उनकी किताबें इतिहास को जानने-समझने के लिए जितनी भी महत्त्वपूर्ण हों लेकिन उनकी मूल प्रकृति साहित्य की है। इस बात का आशय यह नहीं कि इतिहास लेखन के लिए आवश्यक मानदंडों को ये पूरा नहीं करती अपितु उनकी किताबें साहित्य के रास्ते से न केवल आजादी के विभिन्न आंदोलनों के संदर्भ में हमें समझदार बनाती हैं और उनकी संवेदना इतिहास से अधिक गहरी है। अपने लेखन को जीवंत, प्रामाणिक और हृदयस्पर्शी बनाने के लिए वे अपने ऐतिहासिक चरित्रों की तलाश में जगहों, लोगों, घटनाओं और किताबों-दस्तावेजों तक जाते हैं। उनकी किताबें 'पहचान बीसलपुर' (2000), 'मेरे हिस्से का शहर' (2008), 'शहर के भीतर शहर' (2012), 'बरेली एक कोलाज' (2015) और 'फतेहगढ़ डायरी' (2015) पढ़ना कथेतर विधा के नए और अनजाने इलाकों में जाकर समृद्ध होना है। इस लेखन का महत्त्व इस दृष्टि से भी समझना चाहिए कि विभिन्न संस्कृतियों और बहुलताओं से भरे हमारे देश का साहित्य भी एकरेखीय नहीं हो सकता। यहाँ के लोगों को ठीक तरह से जानने के लिए यहाँ के अलग-अलग इलाकों के इतिहास, संस्कृति और भूगोल को भी देखना-जानना पड़ेगा, उसके लिए सुधीर विद्यार्थी कथेतर का रास्ता गढ़ते हैं जिस पर भरोसा किया जा सकता है। फिर पूछा जाए कि दुनिया भर के महान इतिहास के समक्ष बीसलपुर या पीलीभीत को देखने-पढ़ने का क्या औचित्य है? असल में ऐसे सवाल भूमंडलीकरण के बाद लोकप्रिय हुई उस समझ का प्रमाण हैं जिसमें दुनिया को एक गाँव मानने का आग्रह करते हुए अपने गाँव को भूल जाने का कोई खेद नहीं होता।

इसके अलावा सुधीर जी ने क्रांतिकारी आंदोलन से जुड़े महान स्वतंत्रता सेनानियों से संबंधित विभिन्न दस्तावेजों, जीवनियों और इतिहास पुस्तकों को भी जमा किया उन्हें परिवर्धित कर नयी पीढ़ी के लिए सुलभ किया। किताबी कामों के साथ उन्होंने सेनानियों की स्मृति सहेजने के लिए अनेक जमीनी काम भी किए जिनमें स्मारकों का निर्माण और सेनानियों के नाम पर जगहों का नामकरण करवाना शामिल है।

बनास जन के लिए संतोष की बात है कि युवा शिक्षक और अध्येता बिपिन तिवारी ने अपने दो शोधार्थियों अभिषेक गुप्ता और रोहतास कुमार के साथ मिलकर विद्यार्थी जी से लम्बा संवाद किया। यह संवाद केवल विद्यार्थी जी के कृतित्व की झाँकी ही नहीं है बल्कि हमारे समय और समाज से लगातार ओझल होते जा रहे राष्ट्रीय मूल्यों की याद भी दिलाता है जिनसे हमें औपनिवेशिक साम्राज्यवाद से मुक्ति मिली। इस संवाद में अपनी विरासत से बढ़ती अनभिज्ञता के प्रति गहरी बेचैनी और तड़प देखी जा सकती है।

आशा है पाठकों को यह संवाद पसंद आएगा।

पल्लव

विप्लव राग

साहित्यकार सुधीर विद्यार्थी से बिपिन तिवारी, अभिषेक गुप्ता और रोहताश का संवाद

विद्यार्थी जी, जब आप लेखन की दुनिया में सक्रिय हुए तो वे कौन-सी बेचैनियाँ थीं जिन्हें आप अभिव्यक्त करना चाहते थे?

लेखन की दुनिया में मेरी प्रविष्टि कैसे हुई, इसे मैं स्वयं भी बहुत अच्छे ढंग से व्याख्यायित नहीं कर सकता। मुझे लगता है कि कुछ चीजें सरल रेखा की तरह नहीं होतीं बल्कि जटिल और उलझी हुई होती हैं। कई बार हमें खुद भी पता नहीं होता है कि हम कहाँ से गुजर रहे हैं और क्या होने वाला है। स्नातक की पढ़ाई के लिए मैं गाँव से शहर गया। मैं विज्ञान का विद्यार्थी था यद्यपि उसमें मेरी रुचि नहीं थी। लेखन की दुनिया में बहुत सोच-समझकर प्रवेश नहीं किया था। ईमानदारी से कहूँ तो सिर्फ यह था कि अपने नाम को छपे हुए शब्दों में देखने की एक ललक पैदा हुई थी। जैसा कि प्रारंभ में होता है, कुछ कविताई से शुरू किया। कविता भी क्या, तुकबंदी का प्रयास ही अधिक था। एक दो-साल तक यह चलता रहा। इस दौरान कुछ देशभक्ति की कविताएँ लिखीं। उसके बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं कि पढ़ाई छोड़कर गाँव चला आया। गाँव में खेती करने लगा लेकिन वहाँ भी कुछ ऐसी घटनाएँ हो गयीं कि फिर शहर लौटना पड़ा।

एक घटना आपको बताऊँ जिसने मेरे जीवन को बड़ा प्रभावित किया। गाँव में मैं एक दिन खेत जोत रहा था। मेरे पास भैंसे का हल था। बड़े से खेत में हमारे दो नौकर भी बैलों के हल से खेत जोत रहे थे। दोपहर हो चली थी। काली त्वचा होने के कारण भैंसा धूप को बहुत मानता है। खेती करने का नया-नया जोश था, तो सोचा कि जो थोड़ा सा खेत रह गया है, जिसे गाँव में हम हरैया बोलते हैं, इसको भी निकाल दें। पिता मना करते रहे लेकिन मुझे जिद थी कि मैं इसको पूरा करके जाऊँगा। भैंसे जब हाँफने लगे तो मैंने दो-तीन डंडे, जिसे गाँव में पैना कहते हैं, उनको मारे। भैंसे में इतनी ताकत होती है कि अगर वो बिगड़ जाए तो नाथ से नहीं रुक सकता और खास तौर पर गर्मी खाया हुआ भैंसा बिल्कुल नहीं। बैल को आप रोक सकते हैं क्योंकि बैल की त्वचा पर धूप का उतना असर नहीं होता जितना भैंसे पर होता है। भैंसे भागने लगे, बहुत रोकने का प्रयास किया, काफी दूर तक उनके साथ भागे लेकिन अंत में एक बड़ी सी मेड़ पार करने को भैंसे कूदे तो हल एक भैंसे के पैर में लग गया और खून निकल आया। मैंने मिट्टी उठाकर घाव में मल दी। पिता दूर खड़े यह सब देख रहे थे। वे वहीं से डाँटने लगे। पहले तो कुछ और कहते रहे लेकिन अंत में उन्होंने कहा कि बरसात में अगर इसका पैर पक गया तो नया भैंसा कहाँ से लाऊँगा और अगर एक हल कम हो जाएगा तो खेती कैसे होगी। तीन हल की खेती थी। पहले खेती की नाप-जोख हलों से होती थी। अंत में उन्होंने कहा कि निकल जाओ हमारे खेत से। मेरा स्वभाव शुरू से ही जिद्दी था। इसके फायदे और नुकसान दोनों हुए। हालांकि फायदे ज्यादा मिले। महेश अनघ की गजल का एक शेर है कि--

रास्ते जितने बने, जिद ने बनाये हैं
लीक तो आखिर बुजुर्गों की वसीयत है
एक अदना आदमी भी बहुत कर लेता
ऐन मौके पर अड़ी अफसोस इज्जत है।

बस हल को वहीं छोड़ दिया। घर आए, साइकिल उठाई। एक झोले में अपनी डिग्री तथा अन्य दस्तावेज रखे और शाहजहाँपुर की ओर चल दिए। अम्मा घर में मजदूरों के लिए चबेना बना रही थीं। उन्हें मालूम था कि यह रुकेगा नहीं तो जल्दी-जल्दी उन्होंने दो पराँठे, धनिए की चटनी के साथ झोले

में डाल दिए। मेरी जेब में एक भी पैसा नहीं था। गाँव से शाहजहाँपुर तक की इतनी लंबी यात्रा में यदि साइकिल पंक्चर हो गई होती तो हम ठीक भी न करवा पाते। हाँ, यह ध्यान था कि एक दिन पहले अस्सी रुपये का गन्ना बैलगाड़ी से क्रेशर पर डाल आए थे। उसकी पर्ची जेब में पड़ी थी। अब शहर आ गए। वहाँ पता किया कि नौकरी किस तरह से मिलेगी। परिचित लोग हँसते थे क्योंकि हमारा एक ही सपना था कि नौकरी कभी नहीं करेंगे, राजनीति करेंगे। आजीविका के लिए खेती करेंगे। शाहजहाँपुर में पता चला कि दो जगह आवेदन हो रहे हैं। जजी में (यानी कोर्ट में) और ग्राम सेवक के लिए, जो बाद में ग्राम विकास अधिकारी हो गया। हमने दोनों जगह आवेदन कर दिया। दोनों जगह चयन भी हो गया। पैसे की जरूरत पड़ी तो अगले दिन मैं फिर साइकिल से आकर वो अस्सी रुपये क्रेशर से ले गया और उससे अपना काम चलाया। फिर मैं जब गाँव लौटा तो खेती करने का इरादा तो छोड़ ही चुका था और नौकरी शुरू हो गयी थी।

साहित्य की दुनिया में मैं कभी उपेक्षित नहीं रहा। उसका कारण है कि मैंने जो कुछ भी लिखा बहुत ईमानदारी एवं समर्पित भावना के साथ। मेरी रचनाओं का अपेक्षित मूल्यांकन भी हुआ। लेकिन नौकरी शुरू करने के बाद जब घर लौटा तो एक दिन पिता ने एक पंक्ति में मेरा जो मूल्यांकन कर दिया था, वह बहुत सही सिद्ध हुआ। दो दिन की छुट्टी पर घर आया था, जब वापस जाने लगा तब पिता घर से बाहर आए। पिता को मैंने जीवन में दूसरी बार रोते देखा। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया और कंधे पर सिर रखकर रोने लगे। बोले, "नौकरी छोड़ दो यहाँ खेती-किसानी सब चौपट हो रही है।" आगे जो उन्होंने बात कही वो बड़ी याद आती है। उन्होंने कहा, "तुम नौकरी नहीं कर पाओगे।" मैं एक-डेढ़ घंटे रुका रहा। फिर सोचकर कहा कि अभी जाता हूँ, बाद में छोड़ दूँगा। शहर आकर बहुत सोचता रहा। सोचा कि मुझे लेखन की दुनिया में आना है और गाँव में रहकर तो यह हो नहीं सकता। इसलिए नौकरी करना मैंने जारी रखा और गाँव आने से इनकार कर दिया। उसी समय क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास से जुड़ी सामग्री तक पहुँच बननी आरंभ हुई। एक दिन पान की दुकान पर अम्मा के लिए पान और तम्बाकू लेने गया था। वहाँ एक अखबार में मैंने किसी क्रांतिकारी का एक चित्र देखा। चित्र के नीचे छपा था कि यह उस समय का चित्र है जब वह क्रांतिकारियों की ओर से चलाई जा रही आजादी की लड़ाई में अंग्रेजों के खिलाफ बम फेंकने की योजनाओं में व्यस्त रहा करते थे। ऐसा कुछ छपा था। छात्र जीवन था। किसी भी नवयुवक की तरह मुझे भी बम के प्रति एक आकर्षण महसूस हुआ। वहाँ से मन में यह जानने की इच्छा पैदा हुई कि क्रांतिकारी कौन थे। पिताजी कभी-कभी कुछ कहानियाँ सुनाया करते थे। हालांकि पिताजी से मेरा कम ही संवाद होता था। मैं मन में भगत सिंह और चंद्रशेखर आजाद के बारे में कल्पना किया करता था कि ये कितने लंबे चौड़े होंगे, मनुष्य से इतर होंगे और आठ-दस फीट के मतलब बहुत बलवान टाइप के होंगे। सत्रह साल की उम्र रही होगी, तब यह इच्छा जगी कि इन क्रांतिकारियों के कुछ साथी, जो जीवित हैं, उनको देखा जाए। वे भी उनके जैसे होंगे। तो उन क्रांतिकारियों से मिलने का रास्ता कैसे निकाला जाए। इस काम में हमारे मददगार बने शाहजहाँपुर के स्वतंत्रता सेनानी श्याम सिंह बागी। उन्होंने 1942 के आंदोलन में भाग लिया था और कम्युनिस्ट पार्टी के डांगे गुट से जुड़े थे। वे 'साथी' नामक एक अखबार निकाला करते थे, जो कम्युनिस्ट विचारों और क्रांतिकारी शहीदों के लिए बड़ा प्रतिबद्ध था। उनसे मुझे यह सब जानकारी मिली कि कैसे खबर लिखी जाती है, प्रूफ कैसे देखा जाता है, आकर्षक ढंग से शीर्षक कैसे लगाया जाए जो पाठक का ध्यान खींचे। बाद में जब क्रांतिकारियों से मिलना हुआ तो देखा कि वे लोग तो हमारे आप जैसे थे। बेहद सरल, विनम्र और भावुक। धीरे-धीरे क्रांतिकारी आंदोलन की विरासत को जानने और उस पर लिखने का सिलसिला चल पड़ा।

अब तक मैंने क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास पर काफी काम किया है यद्यपि वह इतिहास जैसा

नहीं है। आपको यह भी बताता चलूँ कि मैं कभी किसी लाइब्रेरी में नहीं बैठा, न किसी आर्काइव में गया। इस इतिहास को मैंने देखा-सुना-जाना क्रांतिकारियों की आँखों से, उनके शब्दों से। इतिहास को बताते हुए कई-कई बार उनको रोते हुए देखा। क्रांतिकारियों ने जान की बाजियाँ इस संग्राम में लगा दी थीं। यह सब जानने के क्रम में समझ में आया कि यह एक अनोखा समझौताविहीन संग्राम था। मुझे लगा कि यह इतिहास काफी बिखरा पड़ा है, जिसे संजोने की जरूरत है। उस समय तक बहुत सीमित सामग्री ही हमारे सामने थी। मन्मथनाथ गुप्त जी की लिखी कुछ चीजें थीं और बनारसीदास चतुर्वेदी उस दिशा में बहुत काम कर रहे थे। चतुर्वेदी जी ने मौलिक पुस्तकें तो कम लिखीं लेकिन संपादन कार्य खूब किया। खास बात यह थी कि वे रवींद्र और गांधी के बाद क्रांतिकारियों की ओर आए। यह बड़ा निर्णायक मोड़ था उनकी जिंदगी का। उस समय वे जीवित क्रांतिकारियों से उनके संस्मरण लिखवा रहे थे। चूँकि सभी क्रांतिकारी लेखक तो थे नहीं जो अपनी बातों को रचनात्मक ढंग से व्यक्त कर पाते, इस कारण चतुर्वेदी जी ने बड़े परिश्रम से यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य संभव किया।

यशपाल का 'सिंहावलोकन' मेरे सामने था। 'सिंहावलोकन' पढ़ते हुए लगा कि सीधे-सीधे कोई व्यक्ति इस पुस्तक को पढ़े या उस पर कुछ बनाना चाहे तो उसमें कई खामियाँ, विसंगतियाँ और पक्षपात आ जायेंगे। ये पक्षपात जानबूझ कर भी किए गए हैं। जब आप सारी चीजें पढ़ेंगे जैसे आप सुखदेव राज, विश्वनाथ वैशम्पायन को भी पढेंगे तब बातें स्पष्ट होती चली जायेंगी। यह सब जानकर लगा कि इस दिशा में बहुत काम करना बाकी है और क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास में डूबकर ढंग से करने की आवश्यकता है ताकि सही इतिहास सामने आ सके। शुरुआत यहाँ से हुई कि बनारसीदास चतुर्वेदी ने उन दिनों 'युवक' मासिक पत्रिका के एक अंक का संपादन किया था जो डेढ़ सौ पृष्ठों का बड़े आकार का अंक था। यह पत्रिका आगरा से निकलती थी और प्रेमदत्त पालीवाल उसके संपादक थे जो स्वयं एक स्वतंत्रता सेनानी थे। उनके चाचा उत्तर प्रदेश के शेर कहे जाने वाले प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री कृष्ण दत्त पालीवाल 'सैनिक' अखबार से जुड़े थे और गणेश शंकर विद्यार्थी के बड़े सहयोगी थे। क्रांतिकारियों पर केन्द्रित पत्रिका के उस अंक का संपादन चतुर्वेदी जी ने किया था और नाम दिया था--'स्वाधीनता संग्राम योद्धांक'। यूँ तो स्वतंत्रता संग्राम की दो धाराएँ थीं, एक गांधीवादी या कांग्रेस की धारा और दूसरी क्रांतिकारियों की लेकिन इस अंक में क्रांतिकारियों के बारे में ही सारी सामग्री थी। मैंने 'युवक' मासिक पत्रिका की सदस्यता इसलिए ले ली थी क्योंकि मेरी भी लेखन में रुचि बन रही थी। कुछेक रचनाएँ लिखी भी थीं। साथ में इस पत्रिका के बारे में यह भी पता लगा कि आगरा से छपने वाली एक पत्रिका नए लेखकों को प्रोत्साहित करती है। पत्रिका का क्रांतिकारी विशेषांक, सदस्य होने के नाते मेरे पास आया। उस अंक ने मेरी जिंदगी और धारा ही बदल दी। कितनी-कितनी बार उसको पढ़ा होगा। एक-एक पन्ना अभी भी सामने आ जाता है। बनारसीदास चतुर्वेदी ने उसका जो संपादकीय लिखा था, उसका शीर्षक था--'यज्ञ का समापन'। उस समय तक वे बहुत वृद्ध हो चुके थे इसलिए संपादकीय के माध्यम से कहना चाहते थे कि क्रांतिकारियों पर जो काम शुरू किया था उसका हम लगभग समापन कर रहे हैं। और अब मुझसे पत्र व्यवहार भी नहीं हो पा रहा है। जो नए युवक इस क्षेत्र में काम करना चाहें वे इन लोगों से संपर्क करें। उसमें तीन लोगों के पते दिए गए थे--मन्मथनाथ गुप्त, बटुकनाथ अग्रवाल तथा मदन मोहन चोपड़ा। यद्यपि उन्होंने असमर्थता दिखाई थी कि हमसे कोई पत्र व्यवहार न करे लेकिन न जाने क्यों मुझे ऐसा लगा कि चतुर्वेदी जी को ही पत्र लिखना चाहिए। मैंने उनको पत्र लिख दिया और फिर उनसे मिलने पहुँच गया। जिस ढंग से मैंने पत्र लिखा था, वे समझे कि कोई वरिष्ठ व्यक्ति होगा। जब उन्होंने मुझे देखा तो बोले कि अरे! तुम तो छात्र हो। बैठकर उनसे बातचीत हुई। आसपास के और लोग भी आ गए थे। उनसे भी बातचीत होती रही। महफिल जमाने और गपाष्टक का उन्हें बड़ा शौक था। पुराने लोग यह शौक रखते थे। मैंने कहा कि मैं इस क्षेत्र में काम करना चाहता हूँ। वे बोले कि

पंडित सुन्दरलाल जी ने सत्तर-पचहत्तर वर्ष देश का काम किया पर आज उनका कोई नामलेवा नहीं है। मुझे लगा कि इनका आशय यह है कि कोई उन पर काम शुरु करें। मैंने कहा कि, "दादा, हम तो बिल्कुल नए हैं, अभी छात्र हैं। आप सहयोग करें तो इस काम को हम हाथ में ले सकते हैं।" इस पर वे बोले कि तुम शुरू करो। पहला काम मैंने वही शुरू किया। उसके लिए मुझे बहुत सारी यात्राएँ करनी पड़ीं। चतुर्वेदी जी ने मेरा बहुत सहयोग किया। ग्रंथ भी बड़ा तैयार हुआ। वह दो हिस्सों में आयां। पहला खंड किताबघर से, जो उनके संस्मरणों पर आधारित था और दूसरा खंड 'कद्दावर की दास्तान' जो उनके निबंधों का संग्रह था, वह राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ। ये पहला काम था लेकिन छप के बाद में आया। पहली किताब आई 'अशफाक़ उल्ला और उनका युग'। यह पहली किताब ही बहुत लोकप्रिय और चर्चित हो गई। उसका कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और हो रहा है। इस पर आधारित धारावाहिक 'स्वराज' भी दूरदर्शन पर प्रसारित हुआ। आज भी मेरी सबसे अधिक पसंद की जाने वाली तथा बिकने वाली किताब यही है। यह कैसे हुआ मुझे पता नहीं। हाँ, एक बात है कि इस किताब के चर्चित हो जाने की कोई भी चीज मेरे ऊपर हावी नहीं हुई।

अशफाक़ उल्ला खाँ के व्यक्तित्व और उनकी जीवन-यात्रा में ऐसी कौन सी विशेषताएँ थीं जिन्होंने आपको उन पर पुस्तक लिखने को प्रेरित किया?

एक बात तो यह है कि मैंने पुस्तक का नाम 'अशफाक़ उल्ला और उनका युग' जानबूझकर रखा है। अगर हम क्रांतिकारी संग्राम पर गौर करें और खास तौर से उस दौर पर जिसे हम काकोरी का जमाना कह सकते हैं। उस दौर के बहुत सक्षम नेता रामप्रसाद बिस्मिल हैं। मुकदमे में भी जज ने अशफाक़ को उनका लेफ्टिनेंट ठहराया था। लेकिन एक सवाल उठता है और यह सवाल मुझसे किसी ने नहीं किया कि मैंने पुस्तक का नाम 'अशफाक़ उल्ला और उनका युग' क्यों रखा? जब हमने दोनों का अध्ययन किया तो पाया कि अशफाक़, रामप्रसाद बिस्मिल से कई मायनों में अलग है। वैसे रामप्रसाद बिस्मिल भी अंत तक निर्भीक बने रहे। मौत के इतने नजदीक पहुँचने के बावजूद उनका साहस कम नहीं हुआ। उन्होंने बहुत ईमानदारी से आत्मकथा लिखी है। मैं तो कई बार बड़ी हैरत में पड़ जाता हूँ कि जिस व्यक्ति को 19 दिसंबर 1927 को फाँसी होने जा रही हो और 17 दिसंबर को वो अपनी आत्मकथा का समापन यह लिखकर कर रहा हो कि आज 17 दिसंबर है और दो दिन बाद इस जीवन की इहलीला समाप्त हो जायेगी। वो कितना धैर्यवान, साहसी और जीवट वाला व्यक्ति रहा होगा। रामप्रसाद बिस्मिल ने कालकोठरी के भीतर छिपकर रजिस्टर के आकार के कागजों पर पेंसिल से ईमानदारी से दर्ज किया है कि क्रांतिकारी आंदोलन के लिए अभी देश में स्थितियाँ परिपक्व नहीं हुई हैं। यह उनका अपना अनुभव था। उनका मानना था कि मौजूदा परिस्थितियों में यह कामयाब नहीं हो सकता और इसके लिए लोक शिक्षण, प्रचार और जनता के बीच जाने की जरूरत है। फिर मैंने समानांतर रूप से अशफाक़ की लिखी चीजें भी पढ़ीं, स्वाभाविक है कि कोई रामप्रसाद बिस्मिल पर बात कहना चाहेगा तो उसे अशफाक़ पर बात कहनी ही पड़ेगी। उसके बिना वह बात पूरी नहीं होगी। लेकिन अशफाक़ की चिट्ठियाँ जब मैंने पढ़ीं तो ताज्जुब हुआ। हालांकि इसके विषय में मैंने कहीं लिखा नहीं है। तुलनात्मक रूप से देखा जाए तो बिस्मिल की माँ बहुत सचेत थीं और उनको क्रांतिकारी बनाने में बड़ी भूमिका रही है। यहाँ तक कि वे क्रांतिकारी कार्यों में सहयोग करने, किताब छपवाने के लिए पैसे भी दिया करती थीं। लेकिन बिस्मिल ने जेल से कोई चिट्ठी अपनी माँ को संबोधित करके नहीं लिखी। वहीं अशफाक़ कालकोठरी में बैठकर माँ को संबोधित कर चिट्ठियाँ लिख रहे थे।

अनेक बार कई बड़े समाज सुधारक, परिवर्तनवादी बाहर मंचों पर तो आदर्शपूर्ण बातें करते हैं, लंबे-लंबे व्याख्यान देते हैं लेकिन घर आकर अपने बच्चों से ही उसके विषय में चर्चा नहीं करते। लेकिन

कमाल यह है कि अशफाक़ उल्ला देश और समाज की समस्याओं पर, देश की आजादी के सवाल पर माँ से बात कर रहे हैं। वो अद्‌भुत संवाद है। मेरी बहुत इच्छा थी कि उस संवाद पर कोई नाटक तैयार किया जाए, केवल उनके पत्रों को लेकर।

दूसरी बात यह है कि 1917 में रूसी क्रांति हुई थी, उसका साहित्य बाद को धीरे-धीरे करके आना शुरू हुआ। खास तौर पर इसकी अधिकांश आमद और बाद में होती है लेकिन काकोरी के समय तक यह आना शुरू हो गया था। अशफाक़ ने मार्क्सवाद के सिद्धांतों का, किसानों, मजदूरों के मुद्दों को उठाकर परोक्ष रूप से ही सही, प्रचार किया है। उन्होंने किसानों तथा मजदूरों की ताकत को पहचाना और इस बात पर जोर दिया कि कारखानों, डेरो में जाकर उनके बीच काम करना चाहिए। ये उनका साहस ही था जिसके कारण वे तमाम खतरे उठाकर ये बातें कह सके। एक जगह तो वे बहुत साफ लिखते हैं कि केवल इन विचारों के लिए मुझे इश्तिराकी समझा जाए तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। इश्तिराकी का मतलब होता है 'कम्युनिस्ट'। इन विचारों को काकोरी के समय सीधे-सीधे कहने वाले ये पहले क्रांतिकारी हैं और विचारों के मामले में अत्यंत दृढ़ या कहें कि अपने पथ से जरा भी न डिगने वाले। बिस्मिल यह चाहते थे कि किसी तरह से उन्हें फाँसी की सजा से मुक्त कर दिया जाए। यह उनकी कमजोरी नहीं थी। बिस्मिल की अपनी ढंग की चेतना थी। वो चाहते थे कि हमें फाँसी से तो किसी तरह छुड़ा लिया जाए, यदि मारे जाएँ तो सम्मुख युद्ध में मारे जाएँ। दरअसल उन्हें कानूनी पहलुओं पर भरोसा था। उन्होंने खुद मुकदमे की तैयारी की थी। लेकिन अशफाक ने एक बार भी कहीं ऐसा नहीं किया और अपने वकील हजेला साहब को अपील पर भी हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। अशफाक की इसी वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण मैंने पुस्तक का शीर्षक 'अशफाक़ उल्ला और उनका युग' रखा। मैंने खतरा उठाकर यह शीर्षक रखा लेकिन किसी ने इसकी ओर ध्यान भी नहीं दिया कि मैंने ये नाम क्यों रखा। जो वैचारिक प्रतिनिधित्व अपने समय में अशफाक़ उल्ला कर रहे हैं उस तरह का प्रतिनिधित्व बिस्मिल में हमें दिखाई नहीं दिया।

अशफाक़ एक चिट्ठी में अपनी माँ तथा पिता पक्ष के संबंधियों का जिक्र करते हैं और लिखते हैं कि एक तरफ यानी पितृ पक्ष में प्रगतिशील धारा रही है लेकिन मातृ पक्ष की धारा अंग्रेजपरस्ती की रही है। वह यह भी लिखते हैं कि अब जबकि मैं फँस चुका हूँ तो लोगों ने हमारे परिवार से संबंध तोड़ लिया हैं। इस चिट्ठी से क्या अशफाक के भीतर अपने संबंधियों को लेकर किसी तरह का अपराध-बोध दिखता है?

नहीं, इसे अपराधबोध की तरह नहीं देखा जाना चाहिए क्योंकि उन्होंने बहुत ईमानदारी से ये चीजें दर्ज की हैं ताकि पारिवारिक पृष्ठभूमि खुलकर सामने आ सके। इसे अपराधबोध की तरह इसलिए भी नहीं देखा जाना चाहिए क्योंकि वे अपने एक अध्यापक, जो मौलवी थे, को भी जिम्मेदार ठहराते हैं कि वो किस तरह उन्हें पैन इस्लामिज्म की तरफ ले जाना चाहते थे लेकिन वे जल्दी मुक्त हो गये। मुझे लगता है कि क्रांतिकारी किसी को कोई बनाता नहीं। बिस्मिल लिख रहे हैं कि मैंने मुसलमानों में से एक युवक निकालकर दिखा दिया कि इस कौम पर भरोसा किया जा सकता है। लेकिन दूसरा अशफाक़ उल्ला नहीं पैदा हुआ। कोई व्यक्ति अगर क्रांतिकारी बनता है तो उसकी अपनी ही चेतना इसके पीछे होती है। काकोरी से पहले मैनपुरी कॉन्सपिरेसी केस के समय अशफाक उल्ला के बड़े भाई शाहजहाँपुर के मिशन हाईस्कूल में बिस्मिल के सहपाठी थे। यह 1918-19 की बात है। उस समय अशफाक़ उल्ला मिशन हाईस्कूल में पढ़ रहे थे। एक दिन एकाएक स्कूल को घेर लिया लालं पगड़ीधारी पुलिस ने और उनमें से कुछ पुलिस अधिकारी प्राचार्य के साथ विभिन्न कमरों में जाकर तलाशी करने लगे। उसमें एक युवक राजाराम भारतीय था जिसे कक्षा दस से गिरफ्तार कर लिया गया। अशफाक़ अपने कमरे की खिड़की से यह दृश्य देख रहे थे। उनके भीतर हौंसला जगा। उनके मुँह से एक स्वगत कथन की तरह निकला

कि 'इसकी जगह मैं होता'। इस वाक्य को किसी सहपाठी ने सुन लिया। उसने कहा कि क्या तुम भी क्रांतिकारी बनना चाहते हो? यह बात भी पता चली कि इसमें पकड़े जाने का खतरा है। ये राजाराम भारतीय मैनपुरी केस में शामिल रहे थे। वे बाद तक जीवित रहे। मैं उनके संपर्क में भी रहा। कई बार वे मेरे घर भी आये थे। मेरे पास राजाराम भारतीय की एक हस्तलिखित डायरी है जिसका मैं अभी तक उपयोग नहीं कर पाया हूँ। जब अशफाक़ की डायरी मैंने पढ़ी तो पता चला कि राजाराम भारतीय से उन्हें प्रेरणा मिली थी। मैंने उन्हें डायरी के वही अंश सुनाए तो वे बहुत भावुक हो गए। उन्होंने कहा कि यह बात मुझे तो पता ही नहीं थी।

कर्मवीर सुन्दरलाल जी के जीवन पर नवजीवन प्रकाशन से एक किताब 'कर्मवीर पंडित सुन्दरलाल : सद्भावना के सेतु' प्रकाशित हुई थी, वह किताब आपके काम से पहले आई थी या बाद में?

हाँ, उस पुस्तक का संपादन बिशम्भर नाथ पांडे ने किया था। बिशम्भर नाथ पांडे जी तो उनके प्रिय शिष्य थे और आपको बता दें कि कर्मवीर पंडित सुन्दरलाल ने अपनी पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज', जिसे हम गौरव ग्रंथ कह सकते हैं (उसकी जब्ती की कहानी भी अलग है), को बिशम्भर नाथ पांडे से लगभग बोलकर लिखवाया था। जब मैं सुन्दरलाल जी पर काम कर रहा था तो पांडे जी ने मुझे भी बहुत सहयोग किया। यहाँ तक कि उनके जन्म शताब्दी वर्ष पर दिल्ली में एक कार्यक्रम का आयोजन किया गया था, उसके लिए स्मृति समिति की जो कमेटी बनी थी उसमें उन्होंने मुझे मंत्री बनाया था। हालांकि उस आयोजन में मैं उनका बहुत ज्यादा सहयोग नहीं कर पाया क्योंकि मैं शाहजहाँपुर में दूसरे कार्यों में उलझा हुआ था लेकिन अन्य कई कामों में मैं उनका सहयोगी रहा। पांडे जी ने काफी काम किया। यहाँ तक कि बाद में जो सुंदरलाल जी की आत्मकथा आई सस्ता साहित्य मंडल से, उसका संपादन भी बिशम्भर नाथ पांडे जी ने ही किया यद्यपि उस पर पहला नाम चतुर्वेदी जी का था। चूंकि बनारसीदास चतुर्वेदी जी वरिष्ठ थे तो उनका नाम पहले दे दिया गया लेकिन वो काम पूरा पांडे जी ने ही किया। उस दौर में इस तरह की चीजों में कोई खींचतान नहीं थी क्योंकि उद्देश्य सामने हुआ करता था।

पंडित सुंदरलाल पर जब आपने काम करना शुरू किया तो पंडित जी के बारे में क्या धारणाएँ आपको सुनने को मिलीं और उस समय तक पंडित जी पर क्या सामग्री उपलब्ध थी? उसके अतिरिक्त कौन से नये संदर्भ आपने तलाश किए?

पंडित जी पर हमारा पहला काम था। पंडित सुंदरलाल जी की एकमात्र पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज' खण्ड-1, खण्ड-2 उपलब्ध थी जो अंग्रेजी राज में जब्त हुई थी। वो एक अद्भुत ग्रंथ है। उसकी जब्ती की कहानी अलग है। जब पंडित जी पर काम करना शुरू किया तो 'भारत में अंग्रेजी राज' पुस्तक के अतिरिक्त कुछ भी सामने नहीं था। पहले तो हमने यह तलाश किया कि पंडित जी के कौन-कौन साथी सहयोगी रहे हैं जो अभी भी जीवित हैं। पंडित जी के बारे में जो चीजें बिखरी पड़ी हैं, वो कहाँ हैं? जैसे पंडित जी के पत्र, निबंध। विश्वम्भरनाथ पांडे जी ने पंडित जी की आत्मकथा के अप्रकाशित पन्ने हमें भेज दिये। उनको देखा तो पता चला कि पंडित जी विश्व-शांति आंदोलन के बड़े कार्यकर्ता थे। पुरोधा थे। भारत-चीन मैत्री संघ भी उन्होंने बनाया था। तब भारत-चीन मैत्री संघ के लोगों से संपर्क करने का सवाल उठा। इसमें शामिल लोगों में थे--ओमप्रकाश पालीवाल, प्रोफेसर लिल लिन। उन लोगों से संपर्क किया। उस समय प्रोफेसर लिल लिन चीन की बीजिंग यूनिवर्सिटी में थे। हम चाहते थे कि प्रोफेसर लिलिन भी पंडित सुंदरलाल पर एक लेख लिख दें।

पंडित जवाहर लाल नेहरू ने 1951-52 में पंडित सुंदरलाल के नेतृत्व में चीन भेजे जाने वाले

डेलीगेशन में बेहद महत्त्वपूर्ण लोगों का चयन किया था। ओंकार आनंद, आर. के करंजिया जैसे लोग। हंसराज रहबर साहब से पंडित जी के बारे में बात की। रहबर साहब मानते थे कि पंडित सुंदरलाल भारतीय राजनीति के बहुत विचित्र चरित्र हैं। केवल राजनीति के ही नहीं साहित्य के भी। क्रांतिकारी, लेखक मन्मथनाथ गुप्त जी से संपर्क किया। मन्मथनाथ जी ने हमसे पंडित जी पर काम को लेकर दो बातें कहीं। पहली यह कि पंडित जी पर लिखेगा कौन? खास तौर से वे कम्युनिस्ट जो पंडित जी का इस्तेमाल करते रहे, वो कहाँ हैं? तुम नए लड़के पंडित जी को याद कर रहे हो लेकिन वे लोग कहाँ हैं जिनको पंडित जी को याद करना चाहिए। इसका हम क्या जवाब देते। हम तो अपने काम में लगे रहे। भारत-चीन मैत्री पर पंडित जी की एक छोटी सी पत्रिका प्रकाशित हुई थी। इस पत्रिका को हासिल करने के लिए हमें करंट बुक डिपो, कानपुर जाना पड़ा। करंट बुक डिपो के आनंद माधव त्रिवेदी पंडित जी के करीबी रहे थे, तो उनसे मिले। करंट बुक डिपो का उद्घाटन भी पंडित जी ने किया था। जब हम उनसे मिले तो सबसे पहले उन्होंने कहा कि हमारे यहाँ पंडित जी की एक बड़ी सी तस्वीर माओ के साथ लगी थी। वह तस्वीर खराब हो गयी है। आप दे दीजिए। हमने कहा, ठीक है। करंट बुक डिपो से पंडित जी की कुछ पुस्तिकाएँ मिलीं। बनारसी दास चतुर्वेदी को पंडित जी ने हजरत मोहम्मद साहब पर बोलकर एक छोटी सी किताब लिखवाई थी। चतुर्वेदी जी ने हमें दी। शायद मौलाना आजाद ने किताब की भूमिका लिखी थी। पहले तो मौलाना आजाद को मोहम्मद साहब पर लिखी किताब देखकर ताज्जुब हुआ लेकिन किताब पढ़ने के बाद प्रशंसा की। पता चला कि पंडित जी इस्लाम के बहुत बड़े पक्षधर हैं। मुसलमानों की पक्षधरता के कारण ही पंडित जी को पीठ पीछे मौलाना कहा जाता था। हमारे यहाँ देश-भक्ति की बात करने वाले लोग तर्क में भरोसा नहीं करते हैं।

किसी भी चीज का एकदम ज्वार आता है। देश-भक्ति का ज्वार आया तो देश-भक्ति का आ जाएगा। वैसे ही भारत-चीन युद्ध के समय भी था। पंडित जी मानते थे कि भारत-चीन का युद्ध नहीं हुआ बल्कि वो एक सीमा विवाद था। उनकी पुस्तिका थी, 'भारत चीन सीमा विवाद'। वे मानते थे कि चीन उसमें दोषी नहीं है। कुल मिलाकर यह बड़ा विचित्र था। मन्मथनाथ जी ने हमसे सवाल किया कि पंडित जी की चीन-भक्ति की लीपापोती कैसे हो? आप कैसे कर पायेंगे? मेरा पहला काम होने के बावजूद बहुत संतुलित ढंग से इस मुद्दे पर विचार किया। पंडित जी के जिले मुज्जफरनगर के रहने वाले थे हिंदी लेखक विष्णु प्रभाकर। विष्णु प्रभाकर ने हमारे क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास लेखन में बड़ा सहयोग किया। जबकि वे गांधीवादी थे। यद्यपि उन्होंने भगत सिंह पर किताब लिखी लेकिन वह एक जीवनी टाइप की थी। कई बार लेखक को अपने गुजर-बसर के लिए ऐसा लेखन करना पड़ता है। ऐसे लेखन में कोई साफ पक्ष नहीं आता है। पंडित जी पर हमने जो काम किया वो विष्णु प्रभाकर जी को बहुत पसंद आया। पंडित जी के एक सहयोगी थे वैजनाथ सिंह विनोद। वे बनारस में रहते थे। विष्णु जी बनारस गए तो उनसे भी एक लेख लिखवा लाए। वह लाकर हमें सौप दिया। हमें शुरू से सहयोगी बहुत मिलते रहे हैं। मेरी अंग्रेजी तब भी अच्छी नहीं थी। अब तो और खराब हो गयी है। बीएससी में ठीक-ठाक थी। अंग्रेजी में लिख लेते थे और थोड़ा अनुवाद भी कर लेते थे। लेकिन जब वह छूट गया तो और कमजोर हो गयी। मुझे मुल्कराज आनंद से बात करने में डर लग रहा था। कैसे बात की जाए? चूँकि आनंद जी पंडित जी के साथ चीन गए थे इसलिए नए अनुभव मिलने की उम्मीद थी। मैंने उनको पत्र हिंदी में लिखा और उनका जवाब अंग्रेजी में आया। फिर उन्होंने 30 जून 1980 को पंडित जी के बारे में एक दीर्घ पत्र निबंध रूप में लिखा। पंडित जी का गजब का मूल्यांकन पत्र में किया था।

पत्र में भारतीय राजनीति के तीन चिंतकों का जिक्र किया था--एम.एन. राय, जवाहरलाल नेहरू और पंडित सुंदरलाल। नेहरू के बारे में यहाँ तक कहा था कि ये उस समय भारतीय राजनीति में छिपे हुए साम्यवादी के तौर पर रेखांकित किए जाते थे। एम.एन. राय तो घोषित रूप से कम्युनिस्ट रहे ही

हैं। बाद में रेडिकल ह्यूमनिज्म की तरफ आये। पंडित जी के बारे में कहा था कि वह अंत तक मार्क्सवादी विचार धारणाओं में पूरा भरोसा करने लगे थे। अंत में पंडित जी इस निष्कर्ष पर पहुँच गये थे कि जब तक धर्म और राजनीति का पृथकीकरण नहीं होगा तब तक भारतीय समाज और राजनीति की समस्या नहीं सुलझ सकती। एक समय पंडित जी और शिव वर्मा एक साथ जेल में थे। उस समय जेल के अंदर किसी की अर्थी निकाली गयी। हो सकता है जेल अधिकारी की या किसी और की। जेल में उस समय बहुत सारे आंदोलनकारी होते थे इसलिए ये चीजें चल जाती थीं। वह राजनीति का अलग दौर था। अर्थी निकालने के दृश्य पर पंडित जी ने टिप्पणी की, जिसे शिव वर्मा ने सुन लिया था। वो थी,"हम तो चाहते हैं कि मार्क्सवाद की भी ऐसी अर्थी निकले।" शिव वर्मा से यह बात मुझे पता चली। मैंने सोचा कि शिव दा से एक लेख लिखवाया जाए जिससे सारे पक्ष आ जाएँ। शिव दा ने लेख लिखा और लेख में 'मार्क्सवाद की अर्थी' वाली बात का जिक्र किया। वे लिखते हैं कि जब मैंने पंडित जी से 'मार्क्सवाद की अर्थी' वाली बात पूछी तो वे बोले, "मैंने तो ऐसे ही कह दिया था। मैं क्या चाहता हूँ कि ऐसा हो।" कुल मिलाकर रहबर साहब ने पंडित जी के बारे में जो कहा था, "पंडित जी भारतीय राजनीति के विचित्र चरित्र हैं"--वो उचित ही था।

इसके साथ ही उनकी गांधीवादी आंदोलनों में सक्रियता और प्रभावशाली वक्ता की छवि उन्हें विचित्र चरित्र ही बनाती थी। वे चाहते तो अपने भाषण से श्रोताओं को रुला देते। यह उनकी कला थी। एक समय वे गांधी के बहुत भरोसेमंद बन गये थे। जब बंबई में सांप्रदायिक दंगा हुआ तो गांधी की नजर सबसे पहले पंडित सुंदरलाल पर पड़ी। गांधी ने कहा भी था, "अकेले सुंदरलाल ही दंगे की आग को शांत कर सकते हैं।" आज की तरह तब दंगे से राजनीतिक लाभ उठाने की मंशा नहीं रहती थी। पंडित जी दंगा शांत कराने के लिए जब वहाँ गए तो जो भाषण वहाँ दिया उसकी पंक्तियाँ याद रखनी चाहिए। पंडित जी को लोगों ने सभा-स्थल पर जाने और तकरीर करने से मना किया। शहर में कई तरह की अफवाहें फैली थीं। सभा-स्थल पर मुस्लिम ईंट-पत्थर लेकर आयेंगे और पंडित सुंदरलाल का भाषण नहीं होने देंगे। इसके बावजूद पंडित जी नहीं माने। इस मीटिंग में सुलेमान चिड्डा जैसे कद्दावर सांप्रदायिक नेता आये थे। आयोजकों को यह भरोसा हो गया था कि पंडित जी बचकर जा नहीं पायेंगे। पंडित जी ने भाषण से पहले ही देख लिया था कि लोगों ने अपने हाथों और जेबों में पत्थर भर रखे हैं। पंडित जी ने अपने भाषण में कर्बला, बहादुर शाह जफर के कत्ल का जिक्र करते हुए भाषण समाप्त किया। फिर कहा, अब चलाओ मेरे ऊपर पत्थर। लेकिन एक भी पत्थर नहीं चला। इस घटना को पंडित जी ने अपनी आत्मकथा में दर्ज किया है, "मैं देख रहा था कि लोग जेबों से पत्थर निकाल-निकालकर नीचे फेंक रहे हैं और अंगोछा या रुमाल से अपने आँसू पोछ रहे हैं।" पंडित सुंदरलाल की ये खूबी थी। इन सब जानकारियों को हासिल करने के लिए मुझे बहुत भाग-दौड़ करनी पड़ी।

बनारसी दास चतुर्वेदी जी के कहने पर काम हाथ में लिया था लेकिन इसमें विश्वम्भरनाथ पांडे जी ने बहुत सहयोग दिया। वैसे और भी लोगों ने सहयोग किया। हम चूँकि छात्र जैसे लगते थे तो कोई भरोसा नहीं कर रहा था। लोगों की राय कुछ ऐसी होती थी, यह लड़का क्यों पंडित जी पर काम करने आया है। यह कितना कर लेगा? इस काम में कुछ दिक्कतें भी आईं जैसे रतनलाल बंसल, पंडित जी के बड़े सहयोगी थे। उनकी दो किताबें भी फरीदाबाद में जब्त हो हुई थीं। चतुर्वेदी जी ने कहा कि बंसल जी को लिखने से विरक्ति हो गई है। इसके बाद भी हम पंडित जी पर एक अच्छे संस्मरण की उम्मीद में बंसल जी के घर गये। लेकिन बंसल जी को ऐसी विरक्ति हुई थी कि लिखना तो दूर पंडित जी के बारे में बोले भी कुछ नहीं। ऐसे में बहुत सारी चीजें छूट भी गयी। जो उस समय तक बेहतर ढंग से की जा सकती थीं लेकिन अब वह सामग्री मिलने से रही।

पंडित सुंदरलाल 'कर्मयोगी' पत्र संपादित करते थे। भाषा के क्षेत्र में इस पत्र की क्या भूमिका रही?

'नया हिन्द' की एक कॉपी भी हमारे पास है। इस अंक की विशेष कॉपी कहीं दबी पड़ी होगी। उसमें दो कॉलम होते थे। एक तरफ देवनागरी हिन्दी में छपता था और दूसरी तरफ उर्दू में। वह अद्‌भुत प्रयोग था। गांधी जी और पंडित सुंदरलाल हिन्दुस्तानी भाषा के पक्षधर थे, हिंदी के नहीं। देखा जाए तो पंडित जी का सांप्रदायिक सौहार्द के लिए, भारत-चीन मैत्री संघ के लिए, विश्वशांति आंदोलन के लिए और भाषा को लेकर काम बड़ा है। पंडित सुंदरलाल एक समय इतने प्रभावशाली हो गए थे कि इंदिरा जी को जब चीन या रूस से बात करनी होती तो पंडित जी के मार्फत करती थीं। ब्रेजनेव से, माओ से पंडित जी के निजी संबंध थे। कभी-कभी हम सोचते हैं कि इतने प्रभावशाली, ईमानदार व्यक्ति गुलामी के समय क्यों पैदा हो गए? उस कद के लोग अब क्यों नजर नहीं आ रहे हैं? कई बार लगता है कि संघर्ष ही लोगों को बनाता है। चूंकि अब वे संघर्ष नहीं रहे तो शायद इसीलिए उस कद के लोग नहीं दिखते। पंडित जी ने कभी संसद जाने का रुख नहीं किया। नेहरू जी के कहने पर भी मंत्रिमण्डल में शामिल नहीं हुए। यहाँ त्याग को बहुत रूढ़ अर्थों में न लिया जाए। त्याग लोगों को बड़ा बनाता है। मेरे बाद पंडित जी पर दूसरा काम किसी ने नहीं किया। अगर कोई करना चाहे तो उसे और मुश्किल होगी। हालांकि अब पंडित जी की 'सस्ता साहित्य मण्डल' से आत्मकथा छप गई है। पंडित जी पर जो काम मैंने किया था उसके प्रकाशन में बहुत दिक्कतें उठानी पड़ीं। पहले योजना थी कि पंडित जी पर लोगों से संस्मरण लिखाए जाएँ और कुछ उपलब्ध दस्तावेजी निबंधों को शामिल कर पुस्तक बनाई जाए। लेकिन सामग्री संकलन के दौरान पंडित जी के निबंध मिलते चले गए। तब लालच आया कि निबंधों को अलग कर दिया जाए। यदि एक किताब दो हिस्सों में-एक में संस्मरण और दूसरे में निबंध में-छपती है, तो वॉल्यूम बड़ा हो जाएगा। बनारसीदास चतुर्वेदी जी को भी चिंता हो गई कि इतने बड़े वॉल्यूम को प्रकाशक कैसे छापेगा? और हमारा नाम भी नया था। उस समय तक बिशम्भर नाथ पांडे उड़ीसा के राज्यपाल हो गये थे। वे पंडित जी के शिष्य थे। पांडे जी को पंडित जी वाली किताब के प्रकाशन के संबंध में लिखा। पांडे जी ने चतुर्वेदी जी को दस हजार रुपये किताब प्रकाशित कराने के लिए भेजे। वो हमारी पहली किताब होती। लेकिन इसी बीच बनारसी दास चतुर्वेदी जी की मृत्यु हो गई और चतुर्वेदी जी के लड़कों ने पैसा देने से इंकार कर दिया। उल्टे उन्होंने फिरोजाबाद से एक व्यक्ति को हमारे पास पत्र देकर भेजा कि किताब उनसे ले आओ।

पत्र में लिखा था कि किताब में आपका नाम उचित जगह पर दे दिया जायेगा। थोड़ी सी तुनक मिजाजी हमारे स्वभाव में शुरू से थी। हमने उनसे कहा काम मैंने किया है तो कोई दूसरा नाम तय करने वाला कौन होता है? उनसे यह भी कहा कि वो पैसा रख लें, उसकी हमें जरूरत नहीं है। लेकिन किताब नहीं देंगे। अब हम सोचें कि किताब कौन छापेगा? प्रकाशक पंडित जी को जानते नहीं। उस दौर में हम मुकदमों के चक्कर में इलाहाबाद जाते रहते थे। सो एक दिन सुबह-सुबह हम एक प्रकाशक के यहाँ पहुँच गये। बाचतीच में पूछा आजकल क्या काम रहे हो? मैंने कहा, पंडित सुंदरलाल पर काम कर रहे हैं। पूछा, पंडित सुंदरलाल कौन? हम जिस भी प्रकाशक से पंडित सुंदरलाल वाले काम को लेकर कहते, वह हमसे ही सवाल करता, 'पंडित सुंदरलाल कौन?' यहाँ तक कि इलाहाबाद के प्रकाशक तक पंडित जी के नाम से परिचित नहीं थे। जबकि इसी इलाहाबाद के 'चौक गंगादास' से 'कर्मयोगी' का सारा काम शुरू हुआ था। हमारे भीतर इतिहास चेतना है ही नहीं। कोई हमारे इतिहास को विकृत करके चला जाए, इससे हमें कोई फर्क नहीं पड़ता। अब मुश्किल यह कि किताब छपे कैसे? उस समय हमने शंकर दयाल सिंह से बात की जो 'पारिजात प्रकाशन' चलाते थे। वे राज्यसभा के सदस्य भी थे। हमें लगा ये जरूर पंडित सुंदरलाल को जानते होंगे। उन्होंने इस काम के लिए मुझे बधाई पत्र भेजा और पांडुलिपि भेजने के लिए कहा। उस समय फोटोस्टेट भी नहीं होता था। हमने मूल पांडुलिपि ही भेज दी। किताब छापने के वायदे

के तीन-चार पत्र आये फिर उन्होंने जवाब देना बंद कर दिया। हम फिर परेशान हो गये। हमने अपनी परेशानी कर्मेन्दु शिशिर को बताई तो वे भी दो-तीन बार उनसे मिलने के लिए गये। परंतु उनसे मिलना हुआ नहीं। अंततः कार्बन कॉपी से दोबारा टाइप की हुई पांडुलिपि तैयार की।

उस समय बाबा नागार्जुन हमारे यहाँ ठहरे हुये थे। तब तक हम थोड़ा चल निकले थे। 'अशफाक़ उल्ला और उनका युग' किताब प्रकाशित हो चुकी थी। 'बाबा ने पूछा, इधर क्या काम किया?' हमने कहा, पंडित सुंदरलाल पर कुछ काम किया है। वे बोले, 'देखें।' जब मैं आफिस जाने लगा तो बाबा ने कहा, "पंडित सुंदरलाल पर जो काम किया है, वो सिरहाने रख जाओ।" पांडुलिपि रखकर हम ऑफिस चले गये। लौटकर देखा तो उन्होंने वाणी प्रकाशन के नाम पत्र लिख रखा था, बोले सुबह डिस्पैच कर देना। पत्र की फोटोकॉपी रख ली और मूल पत्र डिस्पैच कर दिया। उधर से पत्र आया कि पांडुलिपि भेज दो। पांडुलिपि भेज दी। प्रकाशन योजना में शामिल भी हो गई। पत्र में लिखा था कि बाबा को भी बता देना लेकिन तब तक बाबा हमारे यहाँ से जा चुके थे। बाद में पांडुलिपि हमारे यहाँ वापस आ गयी। नये लेखक के लिए यह बड़ा धक्का था जबकि पांडुलिपि पर बाबा नागार्जुन की सिफारिश थी। वैसे हमारी पांडुलिपि कमजोर नहीं थी। हमने अशोक माहेश्वरी से केवल एक ही बात कही थी कि अगले दस-बीस सालों में पंडित सुंदरलाल पर कोई काम आ जाए तो हमें बता देना। वे बोले कुछ नहीं। फिर हमने बगैर किसी परिचय के पंडित सुंदरलाल वाले काम के दोनों खण्डों की टाइप की हुई विषय सूची किताबघर प्रकाशन को भेज दी। सत्यव्रत जी उस समय किताबघर प्रकाशन में थे। उनका पत्र आया, वह मेरे लिए सुखद बयार की तरह था। लिखा था, आपका काम बहुत महत्त्वपूर्ण लग रहा है आप पहला खंड हमें तुरंत भेज दीजिए। हमने सोचा दोनों न छपें तो कम से कम एक ही छपे। पहला खंड तुरंत भेज दिया। किताबघर प्रकशन ने अच्छे से छापा। रॉयल्टी भी ठीक तरह से दी। अब सवाल दूसरे खंड का था। उन दिनों वंदना देवेन्द्र मेरे संपर्क में आ गईं। वंदना कविताएँ लिखती थीं। राजकमल प्रकाशन से उनके दो कविता संकलन भी प्रकाशित हुए थे। चूँकि वंदना की इतिहास में दिलचस्पी है तो कई किताबें हमने उनको पढ़ने के लिए दीं। एक दिन उन्होंने कहा, पंडित सुंदरलाल के निबंधों वाली पांडुलिपि जरा हमें देखने के लिए दीजिए। पांडुलिपि पढ़ने के बाद उनकी मुलाकात कहीं राजकमल प्रकाशन के अशोक माहेश्वरी से हुई होगी तब उन्होंने अशोक जी से पूछा, क्या अच्छी किताब मिले, तो आप छापेंगे? उन्होंने कहा, क्यों नहीं छापेंगे? वंदना देवेन्द्र ने कहा, हमारे पास एक ऐसी ही पांडुलिपि है। पांडुलिपि किसकी है, यह नहीं बतायेंगे? पांडुलिपि जब पहुँचे तो देख लेना। उन्होंने हमें बगैर बताए पांडुलिपि की फोटोकॉपी करा ली और राजकमल प्रकाशन को भेज दी। अशोक जी ने कहा कि ऐसा लग रहा है कि इस पांडुलिपि को देखा हुआ है। किताब का शीर्षक वंदना देवेन्द्र ने रखा था, 'कद्दावर की दास्तान'। किताब का शीर्षक मुझे भी अच्छा लगा। इस तरह वह दूसरा खंड छप गया। अभी भी पंडित जी के और पक्षों पर कोई काम कर सकता है। हम तो और कामों में लग गए हैं। जैसे पंडित जी का पत्र-व्यवहार, विश्वशांति आंदोलन, भारत-चीन मैत्री संघ। इन पक्षों पर काम करने की जरूरत है। विश्वशांति आंदोलन आज कितना प्रासंगिक है, उसकी कितनी जरूरत बची है या भारत चीन मैत्री संघ की कितनी जरूरत बची है?

पंडित जी के प्रतिरोध का एक किस्सा बताता हूँ। अब आज कोई भारत-चीन मैत्री संघ, भारत-पाकिस्तान मैत्री संघ पर काम करे तो वह संदेह के घेरे में आ जायेगा। पंडित जी क्रांतिकारी व्यक्ति थे और उनमें प्रतिरोध का सामना करने की भी शक्ति थी। वे खुले तौर पर चीन के पक्ष में थे। आज अगर इस तरह से सामना करते तो पंडित जी मार दिए गये होते। जबकि उस दौर में हमारे देश में चीन के प्रति नफरत होने के बावजूद पंडित जी अपनी पक्षधरता चीन के प्रति रखे रहे। हंसराज रहबर बताते थे कि भारत-चीन युद्ध के बाद एक बार वे टैक्सी से चीनी दूतावास गए। टैक्सी वाले ने चीन के दूतावास पहुँचा तो दिया लेकिन उसके बाद पानी से टैक्सी की सीट धोई। पंडित जी के प्रतिरोध का एक किस्सा

और बताता हूं। एक बार पंडित जी कानपुर की एक सभा में बोलने गए, लोगों ने विरोध शुरू कर दिया। पंडित सुंदरलाल मुर्दाबाद, चीन मुर्दाबाद के नारे लगाए। पंडित जी सुनते रहे और सामने जो मेज थी उसके ऊपर पालथी मारकर बैठ गए। कह दिया जितना विरोध करना हो, कर लो, जब थक जाओ तो बता देना, उसके बाद बोलेंगे। लेकिन आज वह समय नहीं रहा। आज केवल इतना ही विरोध नहीं होता बल्कि विरोध हिंसक भी हो सकता है। समय बहुत तेजी से बदला है। ऐसे में पंडित जी के विचारों की कितनी प्रासंगिकता बची है? इन मुद्दों पर सोचने-विचारने की भी गुंजाइश बची है या वह स्पेस खत्म हो गया। इस पर विचार करने की जरूरत है। पंडित जी ने धर्म और राजनीति के पृथकीकरण की बात की थी और कहा था इसके बिना समाज और राजनीति का उद्धार नहीं हो सकता है। क्या वो बात आज कहने का स्पेस है? ऐसे में पंडित जी पर ही नहीं बाकी क्रांतिकारियों पर भी काम करना काफी कठिन है।

आजाद भारत में जो पहला मंत्रिमंडल बना उसमें अधिकतर स्वतंत्रता संघर्ष से निकले हुए लोग ही थे। पंडित नेहरू, बाबा साहेब आंबेडकर, सरदार पटेल और मौलाना आजाद जैसे लोग शामिल थे। लेकिन इन लोगों के रहते हुए भी क्रांतिकारियों की राजनीति में सीमित हिस्सेदारी रही। इसके लिए जिम्मेदारी किसकी बनती है?

देखिए, इसमें हम दो चीजें देखते हैं। पहली बात यह है कि क्रांतिकारी आंदोलन के लक्ष्य दूसरे थे। कांग्रेस से निरंतर उनके मतभेद थे बल्कि ये बिल्कुल दो धाराएँ थीं। यहाँ तक कि भगत सिंह तक लिखते हैं कि कांग्रेस, जैसा कि उसका चरित्र है, उसके आंदोलन का अंत किसी न किसी समझौते के रूप में हो जायेगा। आजादी मिलने के पंद्रह-बीस साल बाद जब बहुत सारी चीजें बदल जायेंगी तब लोगों को मेरी याद आयेगी। जो आजादी समझौते के जरिए मिले, क्रांतिकारी उससे बिल्कुल असहमत थे। यह अलग बात है कि जब आजादी मिली उस समय तक अधिकतर क्रांतिकारियों को फाँसी दी जा चुकी थी और बहुत से लोग लंबी-लंबी सजाएँ जेलों में काट रहे थे। उसके पीछे यह बात नहीं थी कि क्रांतिकारी निष्क्रिय हो गए थे, जो क्रांतिकारी आंदोलन उभर के आता है वह कुछ देर ठहर के फिर उठता है, जाग्रत होता है। एक तो यह कारण रहा कि कांग्रेस से उनका नीतिगत तालमेल बिल्कुल नहीं रहा।

दूसरी बात यह है कि गांधी तो निरंतर क्रांतिकारियों का विरोध करते थे, यहाँ तक कि उन्होंने वो भी शब्द इस्तेमाल किए हैं जो अंग्रेज उनके लिए करते थे। इसके दस्तावेजी प्रमाण 'यंग इंडिया' तथा अन्य जगहों पर उपलब्ध हैं। लेकिन नेहरू की चेतना अलग थी। गांधी से उनके अनेक मतभेद थे और गांधी से अपने उन मतभेदों को उन्होंने बहुत खरे और कटु शब्दों में व्यक्त भी किया है। जैसे धर्म और राजनीति को मिला देने वाला मामला था, इसके लिए उन्होंने अपनी आत्मकथा में 'धर्म' शीर्षक से जो अध्याय लिखा है उसे पढ़ा जा सकता है। गांधी खिलाफत और असहयोग को साथ-साथ मिलाकर चल रहे थे। खिलाफत आंदोलन का हिंदुस्तान की राजनीति से तो कोई वास्ता नहीं था। तुर्की में खलीफा की सल्तनत को एक क्रांतिकारी शासक कमाल पाशा द्वारा हटाये जाने पर खलीफा की सल्तनत की वापसी के लिए खिलाफत आंदोलन शुरू किया गया था। खिलाफत आंदोलन कोई मुखालफत आंदोलन नहीं था, जैसा हम सरलीकृत ढंग से सोच लेते हैं। यह जो धर्म और राजनीति का घालमेल गांधी ने किया था, इसका नेहरू विरोध कर रहे थे। नेहरू ही नहीं बल्कि मोतीलाल नेहरू, चितरंजन दास जैसे नेताओं को भी बहुत निराशा हुई। जब असहयोग आंदोलन को 'चौरीचौरा' की घटना के बहाने वापस ले लिए गया तो कितने निराश, नाराज और फीके पड़ गए थे ये लोग, उसको उन्होंने दर्ज किया है। अब अगर हम इस बात को सीधे-सीधे सोचें कि नेहरू अगर क्रांतिकारियों के काफी हद तक पक्ष में थे और काफी हद तक उनके अंतर्संबंध थे तो फिर मंत्रिमंडल में क्यों नहीं लिया? हमें याद है कि वे नेहरू जी पंडित

सुंदरलाल को मंत्रिमंडल में लेना चाह रहे थे। 1912 में जिस समय देश की राजधानी का परिवर्तन हुआ है, कलकत्ता से दिल्ली लाई गई और लार्ड हार्डिंग की शोभा यात्रा निकाला जाना तय हुआ। उस समय क्रांतिकारियों ने इसको चुनौती की तरह लिया कि उपनिवेशवादी सत्ता के इस दंभ को चूर किया जाए।

रासबिहारी बोस की यह पूरी योजना थी और चाँदनी चौक में बम फेंक दिया गया। उस समय तक पंडित सुन्दरलाल चूँकि अरविन्द से प्रभावित थे, फिर क्रांतिकारी आंदोलन से जुड़े थे। जब यह योजना तय हो गई कि इस तारीख को यह किया जायेगा उससे पहले दो बक्से क्रांतिकारी आंदोलन से जुड़े दस्तावेज और कागजात लेकर साधु के वेश में उन्हें हिमाचल प्रदेश के सोलन के लिए रवाना कर दिया गया। वे वहाँ चले गये। नाम रखा था सोमेश्वरानंद। उसके बाद की अलग कहानी है कि वो बक्से कैसे बचे? वहाँ भी छापा पड़ा था। फिर वो गांधी के आंदोलन में आ गए लेकिन गांधी के आंदोलन या कांग्रेस के आंदोलन में आने के बाद भी पंडित सुन्दरलाल की फितरत वही रही। क्रांतिकारी चेतना बरकरार रही। नेहरू ने अपने मंत्रिमंडल में पं. सुंदरलाल को लेना चाहा लेकिन सुन्दरलाल ने एकदम मना कर दिया। बनारसीदास चतुर्वेदी एक जगह लिखते हैं कि मैं कभी कल्पना नहीं कर पाता कि मिस्टर सुंदरलाल, एम. एल.ए या मिस्टर सुन्दरलाल, सांसद। संसदीय राजनीति का रास्ता उनका नहीं था। दो उदाहरण और देना चाहूँगा जिससे बात और साफ हो जायेगी। दुर्गा भाभी के सामने भी यह प्रस्ताव रखा गया था कि वो चुनाव लड़ लें तो दुर्गा भाभी ने भी चुनाव लड़ने से मना कर दिया था। उन्होंने कहा था कि संसदीय राजनीति में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं और तीसरा नाम है, शायद नेहरू ने ही प्रस्ताव दिया हो, पंडित परमानंद झाँसी वाले। उनके सामने भी चुनाव लड़ने का प्रस्ताव रखा गया था तब उन्होंने कह दिया था कि मैं क्या मूर्ख हूँ जो चुनाव लडूँ? तो इस पर थोड़ी हँसी की बात भी हुई थी कि मूर्ख कैसे? तो वे बोले थे कि समाज में इतने मूर्ख हैं जो किसी को चुनेंगे तो वो कौन होगा? वो हँसी की बात थी लेकिन पंडित जी ने भी मंत्रिमंडल में आना या संसदीय राजनीति में आना स्वीकार नहीं किया।

कुछ लोग गए भी, जैसे--विजय कुमार सिन्हा ने कांग्रेस से चुनाव लड़ा। भगत सिंह के साथी थे। वे चुनाव हार गये। तो एक दूसरा पक्ष यह भी है, इस पर भी विचार किया जाना चाहिए कि भारतीय जनता या भारतीय मतदाता ने इन क्रांतिकारियों को संसदीय राजनीति में भेजने में दिलचस्पी क्यों नहीं दिखाई? यह सवाल मेरे मन में बार-बार आता है। जैसे कि मुझे नहीं लगता है कि पेशावर काण्ड के विद्रोही चंद्रसिंह गढ़वाली से बड़ा त्याग करने वाला कोई और हुआ है। उन्होंने एक अनोखी क्रांति की जिसकी दुनिया भर में चर्चा हुई, जिसे अहिंसक क्रांति भी कह सकते हैं। चंद्रसिंह गढ़वाली ने फौज में होते हुए गोली चलाने से इनकार कर दिया। यह सबसे बड़ा खतरा था। क्योंकि फौज ही जब इनकार करने लगेगी तो शासन किसके बल पर करेंगे? वहीं से प्रेरणा सुभाष को मिली, वहीं से प्रेरणा 1946 के नौसेना विद्रोह को मिली। इस सबके प्रेरक चंद्रसिंह गढ़वाली थे जो बाद में कम्युनिस्ट हो गए। और ऐसे कम्युनिस्ट हुए कि उनकी बाद में ख्वाहिश थी कि मरने के बाद उनके शव पर लाल झंडा डाला जाए और ऐसा किया भी गया। उन्होंने चुनाव गढ़वाल से लड़ा, कम्युनिस्ट पार्टी से। कितना सादा, कैसा जीवन था उस व्यक्ति का। बहुत अभाव और गरीबी भी झेली उस आदमी ने, उसके परिवार ने भी। वे टिन के भोंपू से प्रचार करते थे। सिर पर एक फौजी हैट लगा है, एक हाफ पैंट और जूते-मोजे। लेकिन गढ़वाल की जनता ने उन्हें चुनाव हरवा दिया। भवानी सिंह रावत के साथ भी यही हुआ। चन्द्रशेखर आजाद के आखिरी दिन तक साथ रहने वाले भवानी सिंह रावत दो बार मेरे घर आए थे। एक बार आजाद की बलिदान अर्द्धशताब्दी पर तथा एक बार उससे पहले। भवानी सिंह जी ने विधानसभा चुनाव लड़ा गढ़वाल से। जनता ने उनको नहीं चुना। दामोदर स्वरूप सेठ जैसा क्रांतिकारी, जिनके बारे में मैनपुरी केस के राजाराम भारतीय ने मुझसे कहा था कि मैंने अपने जीवन में दामोदर स्वरूप सेठ जितने कष्ट सहने वाला क्रांतिकारी नहीं देखा, उन्होंने बरेली से चुनाव लड़ा और हार गए। डॉ. गयाप्रसाद, भगत सिंह ग्रुप के

सबसे ज्यादा त्यागी और जेलों में सबसे ज्यादा मार खाने वाले व्यक्ति थे। उनकी मार इसलिए ज्यादा पड़ती थी क्योंकि जेल अधिकारी उन लोगों को ज्यादा मारते थे जो थोड़े हष्ट-पुष्ट होते थे। ताकि इनके मरने का खतरा न हो और पीटने की ख्वाहिशें भी पूरी हो जाएँ। डॉ. गयाप्रसाद ने सबसे ज्यादा मार झेली, वे भी चुनाव हार गए। तो यह एक सवाल हमारे मन में कई बार आता है। देश की जनता ने इन लोगों को संसद में भेजने में दिलचस्पी क्यों नहीं दिखाई?

सुधीर जी, आपने 'फिलहाल' पत्रिका में भगत सिंह पर एक लेख लिखा था, जिसका शीर्षक था--'भगत सिंह को देवता न बनाएँ'। उसमें आपने ये सारी बातें लिखीं कि कैसे भगत सिंह को एक राष्ट्रवादी युवक के रूप में दिखाया जा रहा है। उनके परिवार के ही एक सदस्य ने कहा कि वो नास्तिक नहीं थे, वो आस्तिक थे। यहाँ तक कि साम्प्रदायिक संगठन तक अपनी प्रचार सामग्री पर उनका फोटो लगाते हैं तो इस तरह बहुत से आवरणों में उनको ढंकने की कोशिश की जा रही है। ऐसे में भगत सिंह की जो असली छवि है वो कहीं धूमिल सी हो गई दिखती है। इन सब कवायदों के पीछे आपको किस तरह के षड्यंत्र नजर आते हैं?

दरअसल ये षड्यंत्र है भगत सिंह की क्रांतिकारिता को छुपाने और दबाने के, पीछे ले जाने, नष्ट करने के। भगत सिंह की जन्मशताब्दी आते-आते उसके सिर पर पगड़ी रख दी गई। पगड़ी रखने का मकसद यह है कि जिस व्यक्ति ने अपने चिंतन और कर्म में कोई फर्क नहीं रखा, धर्मनिरपेक्ष होने और दिखने के लिए उसने केश कटवा दिए, सिख धर्म के एक-एक धार्मिक चिह्न को मिटा दिया, उसको फिर से सिख बनाओ। ताकि उसका जो नास्तिक चिंतन है, वास्तविक धर्मनिरपेक्ष चिंतन है वो पीछे रह जाए। और एक बहादुर के रूप में इंकलाब जिंदाबाद का नारा लगाया, फाँसी हँसते-हँसते चढ़ गया, जैसी बातों तक उसके संपूर्ण व्यक्तित्व को सीमित कर दिया जाए। गलती हमसे भी हो रही है। उनके जन्मशताब्दी वर्ष तक आते-आते खास तौर पर पंजाब में उनको पगड़ी पहनाई गई फिर सब जगह पहनाई जाने लगी। उस पगड़ी का हमने भी विरोध नहीं किया। 'उद्‌भावना' पत्रिका तो प्रगतिशील खेमे की ही पत्रिका है। उसके कवर पर भगत सिंह की वो पगड़ी वाली तस्वीर छपी थी। बस पगड़ी का रंग लाल कर दिया गया था। भाई, हमें कौन सा अधिकार है लाल रंग करने का? अगर लाल रंग कर दिया गया तो कुछ लोग उसे पीला कर रहे हैं। अरविन्द केजरीवाल की पार्टी उसे पीला कर रही है तो इस पर हम कैसे आपत्ति कर सकते हैं, कोई उसे नीला भी कर सकता है।

भगत सिंह को पगड़ी ही नहीं पहनाई जानी चाहिए। मैंने पंजाब में भी जहाँ तीन-चार सौ पगड़ी धारी लोग बैठे थे, उस सभा में भी यह बात कही थी। एक सभा बठिंडा में हुई थी और एक तलवंडी साहिब में। काफी बड़ी उपस्थिति थी लोगों की। उनके बीच मैंने एक बात कही थी, वो अचानक मेरे मुँह से निकल गई। कई बार अपना कहा हुआ अच्छा नहीं लगता, कई बार अपना कहा अच्छा लगता है। मैंने बड़ी मजबूती से कहा कि पंजाब का वो साढ़े तेईस साल का नौजवान, उसका सिर इतना बड़ा हो गया है कि अब उस पर किसी धर्म की पगड़ी फिट नहीं हो सकती। उनके परिवार के यादवेंद्र सिंह संधू ने यह साबित करने का प्रयास किया कि भगत सिंह नास्तिक नहीं थे। ये बातें उन्होंने कही थीं जब भाजपा उनको बबुआ की तरह लिए-लिए घूम रही थी। भगत सिंह की डायरी में किसी शायर के कुछ शेर नोट हैं। एक शेर में परवरदिगार शब्द आया है। कई बार होता है कि हमें बहुत सारे शेर अपनी मान्यताओं के विपरीत होते हुए भी अच्छे लगते हैं। उस 'परवरदिगार' शब्द से, जो उनका नहीं है, वो साबित करने की कोशिश कर रहे हैं कि वो नास्तिक नहीं थे। जबकि उसके लिखे उस लेख को क्यों पीछे कर देते हैं जो बिल्कुल अंतिम समय में भगत सिंह ने लिखा था। यह आलेख उन्होंने तब लिखा है जब जेल के भीतर एक सिख जेल वार्डन ने यह सोचा कि यह सरदार नौजवान रास्ते से भटक गया है तो

उसे लाइन पर लाया जाए। उसने भगत सिंह से कहा कि अब तक तुमने जो भी किया है लेकिन अब तुम्हारा अंतिम समय है, तुम गुरुग्रंथ साहिब का पाठ कर लो और वाहे गुरु का नाम लो। तब उसके दिमाग में आया कि एक सवाल तो बचा ही रह जाता है, इतना सारा लिखा यहाँ तक कि उसने एक तुलनात्मक लेख लिखा है जिसमें नेहरू और सुभाष की तुलना की है, जिसमें नेहरू को उसने अधिक प्रगतिशील और चेतना संपन्न बताया है और सुभाष को भावुक क्रांतिकारी कहा है। नेहरू को अधिक महत्त्व दिया है। उसने लिखा कि मैं 'नास्तिक क्यों हूँ'। आप उसके पर्चे को पढ़कर जरूरी नहीं कि नास्तिक हो जाएँ लेकिन उसके तर्कों को नहीं काटा जा सकता, यह मेरा दावा है। उसे पढ़ा जाना चाहिए। भिन्न विचारधारा की सामग्री भी पढ़ी जानी चाहिए। जब उसका अंतिम परचा, अंतिम आलेख सामने है कि 'मैं नास्तिक क्यों हूँ'। वह डंके की चोट पर कह रहा है कि मैं नास्तिक हूँ। वह 'ईश्वर मुर्दाबाद' का नारा भी लगा रहा है। वो सर्वशक्तिमान की काल्पनिक सत्ता के खिलाफ खड़ा हो रहा है तब यादवेन्द्र सिंह संधू को कहने का कौन सा हक बनता है कि वो नास्तिक नहीं थे। यादवेन्द्र सिंह संधू यदि भगत सिंह की जेल डायरी का भी सही से अध्ययन कर लेते तो उन्हें उद्धरण मिल जाते। वैसे अब डायरी भी प्रकाशित हो गई है। लेकिन भगत सिंह को एक धर्म विशेष से जोड़ने के पीछे एक साजिश है। वो साजिश धीरे-धीरे कामयाब होती दिख रही है।

एक बार मैं आसनसोल किसी कार्यक्रम में गया था। वापसी में देखा कि एक चौराहे पर भगत सिंह की आदमकद प्रतिमा लगी हुई है। मैंने गाड़ी रुकवा ली। प्रतिमा पर सिर्फ पगड़ी ही नहीं थी बल्कि निहंग सिखों के सभी चिह्न सुशोभित कर दिए गए थे। मतलब उस क्रांतिकारी की संपूर्ण क्रांतिकारी चेतना को नष्ट कर दिया गया था। उसकी पगड़ी वाली तस्वीर आई कहाँ से? भगत सिंह की केवल चार तस्वीरें हैं--एक दस साल की आयु के समय की जिसमें वह कुर्सी पर बैठा है, उसके सिर पर पगड़ी है। दूसरी तस्वीर है दशहरा बम काण्ड में गिरफ्तारी के बाद की। जिसमें उसके बाल बंधे हुए हैं और एक चारपाई पर बैठा हुआ है। उस तस्वीर को लोग मानते हैं कि वो जेल की अंतिम तस्वीर है। जेल में तो चारपाई होती नहीं। वो लाहौर के किले की तस्वीर है और अगर पूरी तस्वीर देखी जाए तो पास ही एक कुर्सी पर वहाँ के डिप्टी एसपी बैठे हुए हैं जो उससे बात कर रहे हैं। वो पूरी तस्वीर है। उस समय वह गिरफ्तार कर लिया गया था और चालीस हजार की जमानत पर छूटा था। तीसरी तस्वीर है जब वो नेशनल कॉलेज का छात्र था। इस तस्वीर में वह दूसरी पंक्ति में पीछे खड़ा हुआ है। उसके सिर पर पगड़ी इस ढंग की है जिसमें पीछे साफा जैसा लटका है। दरअसल वो नाटक की टीम है। चौथी तस्वीर उसने दिल्ली में बाल कटवाने के बाद खिंचवाई थी। भगत सिंह द्वारा खिंचवाई गई इस तस्वीर को ही जारी किया गया। जब यह तस्वीर उपलब्ध है तो उस नाटक की तस्वीर को निकालकर उसका साफा हटाकर, दाढ़ी-मूँछें हल्की करके क्यों बनाया जा रहा है? इस तरह की घटनाओं से ठेस पहुँचती है। हमारी एक किताब का राजकमल प्रकाशन ने दूसरा संस्करण बगैर मेरी अनुमति और जानकारी के निकाल दिया। एक जगह बिक रहा था, हमने देखा तो प्रूफ के लिए खरीदना पड़ा। पुस्तक के कवर पर भगत सिंह की पगड़ी वाली तस्वीर छपी थी। इस पर काफी विवाद हुआ। मैंने उनको पत्र लिखे, विरोध हुआ, बहुत लड़ाई हुई। वह प्रकाशन जिसने मेरी सात-आठ किताबें प्रकाशित की हैं जो खूब बिकती हैं। लेकिन मेरी आपत्ति के बावजूद राजकमल प्रकाशन ने किताब के कवर को बदला नहीं। किताब का पूरा संस्करण पगड़ी वाली तस्वीर के साथ ही बेच लिया। जबकि मैंने प्रस्ताव रखा कि इसमें आने वाले खर्च को मेरी रॉयल्टी से काट लें। अब तीसरा संस्करण आया है, वो भी बगैर पूछे निकाला है लेकिन मुझे एक कॉपी भेजी है और पूछा है कि अब हैट वाली तस्वीर ठीक है? भगत सिंह को जो इस रूप में पेश किया जाना सिर्फ भगत सिंह के ही अहित में ही नहीं है बल्कि संपूर्ण क्रांतिकारी आंदोलन के खिलाफ है। भगत सिंह के चाहने वाले लोगों को इसका विरोध करना चाहिए।

भगत सिंह को इतिहासकार बिपिन चंद्रा ने 'मेकिंग रिवोल्यूशनरी' यानी बनता हुआ क्रांतिकारी कहा है। वे लिखते हैं कि एक मुकम्मल क्रांतिकारी का जो रूप है वो भगत सिंह में देखने को नहीं मिलता। उनकी बहुत सारी मान्यताएँ धीरे-धीरे बदल रही हैं खासतौर से गांधी को लेकर। जेल के अंतिम दिनों की चिट्ठियाँ मिलती हैं उनमें वे गांधीवाद के पक्ष में दिखाई देते हैं। वे अहिंसा की वकालत करते हैं। नौजवानों को जो संदेश देते हैं वह भी इसी से प्रेरित है। आपकी नजर से भगत सिंह को पढ़ा जाए तो क्या मूल्यांकन बनेगा?

पहली बात यह कि नौजवानों को संदेश देने का काम सिर्फ गांधी ही नहीं भगत सिंह भी कर सकते हैं। भगत सिंह कहीं हिंसक नहीं हैं। हम लोग जो इतिहास का ऐसा बँटवारा करते हैं, सीमा-रेखा खींच देते हैं कि भगत सिंह हिंसक और गांधी अहिंसक थे। यह गलत है। भगत सिंह ने उस क्रांतिकारी आंदोलन को जो किन्हीं अर्थों में छापामार लड़ाई थी, जिसकी वैचारिक पक्षधरता भगत सिंह के पहले तक स्पष्ट नहीं थी। भगत सिंह ने इसे नए वैचारिक रास्ते पर बढ़ाया। अलोक धन्वा की एक कविता है--'सफेद रात'। इसमें वे लिखते हैं--

जब भगत सिंह फाँसी के तख्ते की ओर बढ़े
तो अहिंसा ही थी
उनका सबसे मुश्किल सरोकार।

अब देखिए सांडर्स को मारने की योजना क्रांतिकारियों ने तय की। भगत सिंह और राजगुरु को आगे किया। आजाद, विजय कुमार सिन्हा, भगवानदास माहौर शामिल थे और जयगोपाल जो मुखबिर हुआ, वो पीछे रहा साईकिल खराब होने का बहाना करके संकेत करने के लिए। भगत सिंह ने जीवन में पहले केवल एक गोली मजबूरी में चलाई थी। यह कार्रवाई क्रांतिकारी आंदोलन के द्वारा निर्धारित थी। जो नोटिस चिपकाया गया था उसमें लिखा है कि "एक व्यक्ति की हत्या का हमें खेद है, यह बहुत विवशतावश किया गया है। मनुष्य का रक्त बहाने के लिए अपनी इस विवशता पर हम दुखी हैं लेकिन हमने लाला लाजपत राय की हत्या का बदला ले लिया है और यह दिखा दिया है कि भारतीय नौजवानों का खून ठंडा नहीं हो गया है।" उसके बाद भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने जो बम फेंका, वह एक कमजोर बम था और खाली कुर्सियों पर पीछे फेंका गया ताकि बड़ा धमाका तो हो किंतु कुछ नुकसान न हो। पार्टी द्वारा जारी किए गए पर्चे में एक पंक्ति भी थी कि 'बहरों को सुनाने के लिए' बड़े धमाके की जरूरत होती है। तो यह हिंसक कहाँ है?

संपूर्ण क्रांतिकारी आंदोलन को, यदि उसे हिंसक कह भी लिया जाए लेकिन समय के साथ वह बड़े उद्देश्यों की ओर उन्मुख होता दिखता है। यद्यपि वो वैचारिकी बिस्मिल और अशफाक़ के समय में ही शुरू हो गई थी लेकिन बहुत उभरकर भगत सिंह के समय में आई। भगत सिंह ने क्रांतिकारी आंदोलन को विचार की पूँजी सौंपी। भगत सिंह को हिंसक कहना और गांधी को अहिंसक कहना यह बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण है। मुझे लगता है कि दुनिया में किसी भी मुल्क की आजादी का इतिहास इस तरह से खानों में बाँटकर नहीं देखा गया कि एक हिंसक आंदोलन है और दूसरा अहिंसक आंदोलन है। हिंसक और अहिंसक इन दो शब्दों पर गौर करें और इसके आधार पर विचार करें। अगर गांधी को हम अहिंसक मान लें जिन्होंने 1921 में चौरी चौरा में हुई हिंसा के बहाने आंदोलन को वापस ले लिया। गांधी को वो हिंसा तो दिखाई दी जिसमें थाने को घेरकर उत्तेजित भीड़ ने आग लगा दी लेकिन उससे पहले जो आंदोलनकारियों का उत्पीड़न हो रहा था वो हिंसा गांधी को नहीं दिखाई दी? दूसरी बात ये है कि 1921 के गांधी और 1942 के गांधी में फर्क करना पड़ेगा। 1942 के आंदोलन का इतिहास अगर देखें तो गांधी जैसा आंदोलन चलाना चाहते थे अपनी शर्तों पर (गांधी ने ऐसा हमेशा किया) वो आंदोलन वैसा रह नहीं गया। बड़े-बड़े नेता तो जेल में बंद थे तो जो क्रांतिकारी शक्तियाँ जगह-जगह थीं, स्थानीय स्तर

पर उन क्रांतिकारी शक्तियों ने वो आंदोलन अपने हाथ में ले लिया और अपने ढंग से संचालित किया। थाने में आग लगाई, पोस्ट ऑफिस जलाये, टेलीफोन के तार काटे, यह सब क्या अहिंसा थी? और गांधी ने खुद जो नारा दिया उसमें अगर कोई अहिंसा की तलाश करे तो निराशा हाथ लगेगी--'करो या मरो'।

गांधीवादी लेखक माने जाने वाले विष्णु प्रभाकर को हमने शाहजहाँपुर में 'गांधीवाद की प्रासंगिकता' विषय पर व्याख्यान देने के लिए बुलाया था। उन्होंने अपने व्याख्यान में बताया कि एक बार गांधी जी से लड़कियों ने सवाल किया कि आप अहिंसा की बात करते हैं लेकिन जब लड़के हमें छेड़ते हैं तब हम क्या करें? गांधी ने कहा कि तुम्हारे पास अगर छुरी है छुरी मारो, कटार है तो कटार मारो, प्रतिरोध जरूर करो। यह बात हमने कहीं पढ़ी नहीं, विष्णु प्रभाकर के माध्यम से बता रहे हैं। यह व्याख्यान छपा भी है। मुझे लगता है कि गांधी अपने ढंग से प्रतिरोध करते थे; यह जरूर था कि आजादी के आंदोलन को वे अपने ढंग से, अपनी शर्तों पर संचालित करना चाहते थे। हमें कई बार लगता है कि ऐसा तो नहीं कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद से इनका कोई लेना देना हो। 'अनशन' को गांधीवादियों का हथियार माना गया है जबकि गांधी सहित किसी गांधीवादी ने अनशन में जान नहीं दी। गांधी और गांधीवाद के रास्ते पर चलने वाले लोग, लड़ाई को उस हद तक ले जाना ही नहीं चाहते थे जो मुकाम तक पहुँच पाए। वो अपनी जान नहीं देना चाहते थे। अनशन में जान देने वाले क्रांतिकारियों की लंबी फेहरिस्त है। जबकि अनशन को क्रांतिकारियों का हथियार माना नहीं गया। अंडमान में राम रक्खा और बाद में भगत सिंह के साथी महावीर सिंह अनशन में मरे। फतेहगढ़ जेल में मणीन्द्र बनर्जी, जिन्होंने राजेंद्र नाथ लाहिड़ी को फाँसी लगवाने की पूरी मुहिम चलाने वाले जितेन्द्र बनर्जी पर गोली चलाई थी, वो अनशन में मरे। तिरेसठ दिन अनशन करके क्रांतिकारी यतीन्द्रनाथ दास लाहौर जेल में शहीद हुए। इसके अलावा भी अनेक लोगों ने लंबे समय तक अनशन किए। कुछ लोगों की मौतें नहीं हुईं क्योंकि क्रांतिकारियों को नली के माध्यम से बलात् पान कराया जाता था। भगत सिंह के पास जेल में अनशन का रिकॉर्ड है। योगेश चंद्र चटर्जी के पास अनशन का रिकॉर्ड है। मैं जानना चाहता हूँ कि गांधी जी या किस गांधीवादी के पास अनशन का ऐसा रिकॉर्ड है। जबकि अनशन को गांधीवादियों का हथियार माना जाता है।

यतीन्द्रनाथ दास ने अनशन शुरू करने से पहले ही कहा था कि अनशन न शुरू किया जाए क्योंकि यह बहुत बहुत मुश्किल लड़ाई है। एक गोली चलाने से ज्यादा बड़ी लड़ाई है। लेकिन लड़ाई में जब आगे बढ़ गए हैं तो पीछे नहीं हटेंगे। मुझे लगता है कि अनशन को केंद्र में रखकर किताब लिखी जानी चाहिए। जिन क्रांतिकारियों ने अनशन में जानें दीं तो उनके क्या उद्देश्य थे? क्या उस व्यवस्था से लड़ने के लिए दूसरे रास्ते बंद हो गये थे या फिर अनशन ही एकमात्र रास्ता बचा था। कई बार अहिंसा के रास्ते पर चलने वालों के लिए भी हिंसा अपरिहार्य हो जाती है। क्रांतिकारियों ने तब हिंसा की है जब उनके लिए हिंसा अपरिहार्य हो गई। आप देखें कि असेंबली में बम फेंकने का पूरा अभियान हिंसक रास्ते से क्रांतिकारी आंदोलन को हटाना था। जनता तक आवाज पहुँचानी थी और उन्हें यह भी बताना था कि हमारी लड़ाई क्या है और हम किसके लिए लड़ रहे हैं। मुझे लगता है कि हमें इतिहास को हिंसा और अहिंसा पर आधारित धाराओं में बाँटकर नहीं देखना चाहिए। यहाँ से गौर किया जाना चाहिए कि शचींद्रनाथ सान्याल ने असहयोग आंदोलन की असफलता के बाद क्रांतिकारी पार्टी का संविधान बनाया था। साथ ही उनका उद्देश्य केवल आजादी की लड़ाई नहीं थी बल्कि 1922-23 में उसमें प्रजातंत्र की लड़ाई भी शामिल कर ली गई थी। इससे पता चलता है कि क्रांतिकारी कितने प्रगतिशील और दूरदर्शी थे। भगत सिंह के समय में फिरोजशाह कोटला के मैदान में जो मीटिंग हुई उसमें दल के नाम में 'समाजवादी' शब्द जोड़ा गया। यह बताने के लिए कि हमारा आगे का लक्ष्य क्या है। जो लोग इतिहास का गहराई से अध्ययन करना चाहते हैं उन्हें देखना चाहिए कि पार्टी के संविधान में कोई परिवर्तन नहीं किया गया क्योंकि समाजवाद की लड़ाई उनके उद्देश्य में पहले ही शामिल थी। क्रांतिकारियों का पहले

से ही मानना था कि हम एक ऐसे समाज के निर्माण के लिए संकल्पबद्ध हैं जिसमें एक मनुष्य के द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण संभव नहीं होगा। वैश्विक नजरिए का परिचय देते हुए सान्याल जी ने लिखा था कि उसमें एक राष्ट्र के द्वारा दूसरे राष्ट्र का भी शोषण संभव नहीं होगा। हम नहीं समझते हैं कि आज कोई कह सकता है कि हम किसी ऐसे समाज का निर्माण चाहते हैं कि जिसमें एक राष्ट्र के द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण संभव न हो।

विद्यार्थी जी, गांधी का अनुकरण करने वालों ने भी अनशन में अपनी जानें दीं हैं।

मैं विशेष रूप से अनशन की बात कर रहा हूँ जैसे मान लीजिए तिरंगा फहरा रहे हैं और गोली चली तो वो शहादत हुई है लेकिन वो एक अलग ढंग की शहादत है। जैसे कि 1942 में फुलेना प्रसाद श्रीवास्तव महाराजगंज में नौ गोली खाकर शहीद हुए। तिरंगा हाथ में था, पत्नी भी साथ में थीं। जुलूस पर गोलियाँ चलीं। नवीं गोली लगने पर तिरंगा गिरा है तो उनकी पत्नी ने संभाल लिया है। गोली लगने पर खून की जो धारा फूटी है उसे रोकने के लिए उनकी पत्नी ने अपनी साड़ी फाड़कर बाँधी। तिरंगा फहराते हुए हरिद्वार के स्टेशन पर एक व्यक्ति की शहादत हुई। लाल पद्मधर को ऐसे ही गोली इलाहाबाद में मारी गई थी। 1942 में राजनारायण मिश्र को फाँसी हुई थी जो एच.एस.आर.ए (हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसियेशन) के बाद आरएसपी से जुड़ गए थे। आरएसपी से योगेश चंद्र चटर्जी, झारखंडे राय, राजनारायण भी जुड़ गए थे। आंदोलन को किसी एक लाइन पर संचालित या क्रियान्वित किया भी नहीं जा सकता। वो अपने-अपने ढंग से फूट पड़ता है।

एच.एस.आर.ए. में भगवानदास माहौर,भगतसिंह के बहुत करीबी थे, लेकिन असेम्बली बम कांड में उन्हें शामिल नहीं किया गया जिससे वे दुःखी हुए। इस कार्यवाही से पहले क्रांतिकारियों की क्या योजना थी?

'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसियेशन' में भगवानदास माहौर की बड़ी जगह थी लेकिन दल की ओर से केन्द्रीय असेम्बली में मजदूर विरोधी दमनकारी कानूनों और पब्लिक सेफ्टी बिल को विशेषाधिकार के जरिए पास करने के विरोध में बम का धमाका करने और पार्टी की नीतियों और उद्देश्योंको प्रचारित करने के उद्देश्य से लाल रंग के छपे हुए घोषणापत्र बिखराने के लिए किसे भेजा जाये, इस पर अनेक बार सघन विचार-विमर्श किया गया। एक बार जयदेव कपूर का भी नाम तय हुआ था लेकिन इसके पीछे तयशुदा लाइन पर इस घटना को अंजाम देने के बाद गिरफ्तारियों के लिए स्वयं प्रस्तुत होने पर अदालत को मंच के रूप में इस्तेमाल करने की बड़ी योजना थी। सब जानते थे कि इस काम को सर्वाधिक योग्य ढंग से भगतसिंह सम्पन्न कर सकते हैं लेकिन उन जैसे बौद्धिक क्रांतिकारी को दल किसी तरह खोना नहीं चाहता था। यह सब चल ही रहा था कि सुखदेव पंजाब से आ गए। वह पंजाब शाखा के संगठनककर्ता थे। उन्होंने भगतसिंह से ही पूछ लिया कि असेम्बली में फेंके जाने का क्या रहा? भगतसिंह ने कहा कि सारी तैयारी हो चुकी है, डेवलपमेन्ट वॉच किया जा रहा है। 'तो तुम इस काम के लिए नहीं जा रहे हो?', सुखदेव ने पूछ लिया। भगतसिंह के 'हाँ' कहने पर सुखदेव ने कमोबेश नाराज होकर कहा कि वह शायद इस जोखिम से बचना चाहते हैं जबकि वही इसे सुयोग्य ढंग से सम्पादित कर सकते हैं। सुखदेव ने आरोप लगाया कि तुममें अहंकार आ गया है, क्या तुम चाहते हो कि भाई परमानन्द की तरह जज तुम्हारे बारे में कभी इस तरह लिखे कि यह व्यक्ति क्रांतिकारी आन्दोलन का मस्तिष्क है लेकिन खुद इतना कायर और डरपोक है कि अपने को पीछे रखकर जूनियर को फायरिंग लाइन में आगे भेज देता है।

भगतसिंह को अपने सबसे चहेते साथी की यह बात चुभ गई और उसने जिद पकड़ ली कि अब बम फेंकने वही जायेगा। उसकी हठ पर दल को उसे इजाजत देनी पड़ी। जयदेव दा को भी इस बात

का अफसोस रहा कि इस बड़े और ऐतिहासिक काम की जिम्मेदारी से उन्हें पीछे कर दिया गया। दरअसल, क्रांतिकारियों में यह भावना सघनता और मजबूती के साथ रहती थी कि किसी एक्शन में उन्हें आगे भेजा जाये और ऐसा न होने पर उन्हें लगता था कि वे पीछे रह गए। माहौर जी के दुःख को भी इसी दृष्टि से देखा-परखा जाना चाहिए। जयदेव दा से ऐसे मसलों पर मेरी कई दिनों तक, अनेक अवसरों पर सघन चर्चा होती रहती थी।

काकोरी ट्रेन डकैती केस में रामकृष्ण खत्री ने दस वर्ष की सजा काटी। बाद में वे कांग्रेस में सक्रिय हो गए। नेहरू से नजदीकियाँ भी हो गईं। आपका उनसे काफी मिलना-जुलना रहा। कैसे याद करते हैं उन्हें?

रामकृष्ण खत्री जी से मेरा बहुत निकट का सम्बन्ध रहा। जाने कितने दिनों तक उनकी लखनऊ की रिहाइश मेरी 'आश्रय स्थली' बनी रही। वे काकोरी केस के सचेत और उत्साही क्रांतिकारी थे तथा प्रारम्भिक जीवन में ही उनका चन्द्रशेखर आजाद से करीबी रिश्ता था। बाद को उन्होंने उत्तर प्रदेश की राजधानी को अपना केन्द्र बनाया। वहाँ कैसरबाग चौराहे के दुतल्ले पर उनका आवास था जहाँ मैं अक्सर जाकर ठहरा करता था। सुविधा यह थी कि उस जगह हर रोज किसी-न-किसी आगन्तुक क्रांतिकारी से मेरी भेंट हो जाती थी जो मेरे अनुभव संसार को समृद्ध बनाता था। बताना चाहता हूँ कि खत्री दादा का फारवर्ड ब्लॉक से भी ताल्लुक रहा था। वे नेताजी सुभाष चन्द्र बोस के भी करीबी रहे और 1940 में जब नेताजी ने उत्तर भारत का दौरा किया तब अनेक जगहों पर वे उनके साथ थे। जवाहरलाल नेहरू से उनका सघन सम्पर्क रहा। उनके जीवन के उत्तरार्द्ध को देखता हूं तो वे काकोरी शहीद अर्धशताब्दी आयोजन, चन्द्रशेखर आजाद के अस्थि-कलश की यात्रा, रासबिहारी बोस की जन्मशती, आजाद की पिस्तौल का अनेक शहरों से निकाले जाने वाला जुलूस और शहीद यतीन्द्रनाथ दास के बलिदान अर्धशती जैसे कार्यक्रमों के आयोजक बन कर रह गए जो नितान्त जरूरी तो थे लेकिन वह सब पुराने क्रांतिकारियों के मिलन जैसे समारोहों में तब्दील होकर रह जाते थे जहाँ क्रांतिकारियों के वैचारिक लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए किसी कोशिश को देख पाना एक दुराशा ही थी। खत्री दादा ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य अपनी आत्मकथा 'शहीदों की छाया में' को लिख कर किया जो काकोरी युग की स्मृतियों और हलचलों का अनोखा दस्तोवज है। यह कार्य उन्होंने क्रांतिकारी शचीन्द्रनाथ बख्शी के बार-बार कहने पर किसी तरह पूरा किया था। मेरी स्मृति में यह सुरक्षित है कि मेरी पहली पुस्तक 'अशफाक़ उल्ला और उनका युग' का लोकार्पण 1989 में उन्होंने ही शाहजहाँपुर में शहीद अशफाक़ उल्ला के मजार-स्थल पर एक बड़े जलसे में किया था और आगे चलकर उनकी पुस्तक 'शहीदों की छाया में' के दूसरे संस्करण के सम्पादन करने का मुझे भी अवसर प्राप्त हुआ।

पंडित नेहरू क्रांतिकारियों के प्रति हमदर्दी रखते थे। कतिपय असहमतियों के बावजूद वे उनकी मदद को तैयार रहते थे। जेल में क्रांतिकारियों को दी जा रही प्रताड़नाओं का भी उन्होंने विरोध किया। क्रांतिकारियों के साथ उनके संबंधों पर आपने एक किताब लिखी। नेहरू के व्यक्तित्व के इस पहलू के बारे में बताइए।

नेहरू और क्रांतिकारियों के अंतर्संबंधों पर मुझसे लिखने के लिए प्रियंवद ने कई बार कहा लेकिन उनके बार-बार स्मरण दिलाने पर मैं लगभग सवा वर्ष में इस काम को कर सका। मेरा वह आलेख 30-32 पृष्ठों में उन्होंने 'अकार' में प्रकाशित किया जिसे पढ़कर देश निर्मोही ने मुझे पुस्तक लिखने का सुझाव दिया। 2024 में आधार प्रकाशन से यह पुस्तक प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में पहली बार नेहरू से क्रांतिकारियों के रिश्ते को उद्घाटित किया गया है। नेहरू प्रारंभ से ही अपने विचार और कार्यशैली में सर्वथा भिन्न ढंग से सोचने वाले व्यक्ति थे। यह गांधी से पृथक उनका पक्ष था जिसे उन्होंने कभी

छिपाया नहीं बल्कि वे आगे बढ़कर निरंतर इस तरह के कार्यों में संलग्न बने रहे।

भगत सिंह और यतीन्द्रनाथ दास जब लाहौर जेल में अपनी माँगों को लेकर अनशन की लंबी लड़ाई लड़ रहे थे तब नेहरू ने वहाँ जाकर उनसे मुलाकात की। इसके बाद 'अभ्युदय' के 17 अगस्त, 1929 के अंक में नेहरू का जो वक्तव्य प्रकाशित हुआ वह बहुत मार्मिक और उनकी भावनाओं को व्यक्त करने वाला है जिसमें वे कहते हैं कि दिन में दो बार इन लोगों के पेट में जबर्दस्ती भोजन ठूँसा जाता है जिसके कारण कुछ की दशा तो इतनी बदतर हो गई है कि यह तरीका बंद कर देना पड़ा है और जिन लोगों की हालत खराब है, वे ज्यादा दिन न चलेंगे, वे धीरे-धीरे मौत के घाट लग रहे हैं। यतीन्द्र दास की दशा विशेषतः शोचनीय है--वे बेहद कमजोर हैं, करवट तक नहीं ले सकते, बहुत धीरे-धीरे बोलते हैं, उनको अत्यंत कष्ट है और वे मौत का पैंड़ा देख रहे हैं। यही नहीं बल्कि तिरेसठ दिन की भूख हड़ताल में यतीन्द्र की शहादत पर नेहरू उन्हें अपनी ओर से श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहते हैं कि आज शहीदों की आकाश गंगा में एक और दैदीप्यमान नक्षत्र की वृद्धि हुई है। हमारे बहादुर नौजवानों में से एक और आगे निकला है और उसने हँसते-हँसते अपने प्राणों को देश की आजादी के लिए बलिदान कर दिया है। वे अपनी अभिव्यक्ति में आगे जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं वे सचमुच हृदय विदारक है कि मैंने लाहौर जेल के अस्पताल में यतीन्द्र को देखा था--क्या मैं उस चेहरे को भूल सकता हूँ जिसमें एक सुकुमारी कन्या की सी कोमलता थी, लेकिन इसके साथ ही मैंने यह महसूस किया कि उसी चेहरे में लोहे की सी सख्ती और फौलाद की सी ताकत और बरफ की सी शीतलता दिखाई देती है और ऐसा चेहरा उसी नरवीर का हो सकता है जिसकी गणना देश की विभूतियों में हो।

यही नहीं केंद्रीय असेंबली में जब भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने बम विस्फोट करने तथा अपने दल की नीतियों तथा आदर्शों से जुड़े पर्चे बिखेरने के बाद अपनी गिरफ्तारियाँ दे दीं तब दल के फरार लोगों में विजय कुमार सिन्हा को बरेली के बुधौली गाँव में ठाकुर पृथ्वीराज सिंह के घर जाहिर तौर पर बच्चों को ट्यूशन पढ़ाने के लिए रखवा दिया था। बाद को सिन्हा जी बरेली शहर में पकड़े जाकर लाहौर मुकदमे में ले जाए गए जिसमें उन्हें काला पानी की सजा मिली। एक और प्रसंग काकोरी के सजायाफ्ता क्रांतिकारियों की जेल से रिहाई का है जब 1937 में उत्तर प्रदेश में उत्तर प्रदेश में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनने पर उन्हें नैनी जेल से छोड़े जाने के बाद नेहरू ने उनके सम्मान में 'आनंद भवन' में एक चाय पार्टी का आयोजन किया था जबकि गांधी ऐसी चीजों को पसंद नहीं करते थे बल्कि उनका विरोध करते थे। नेहरू जिन दिनों देहरादून जेल में बंदी थे उन्हीं दिनों पेशावर के क्रांतिकारी चन्द्रसिंह गढ़वाली के छूटने पर उन्हें गढ़वाल में प्रवेश की अनुमति नहीं थी जिसके चलते नेहरू ने उन्हें एक पत्र भेजकर इलाहाबाद के अपने घर पर रहने की व्यवस्था की थी। नेहरू विदेश में देश की आजादी के लिए काम करने वाले हिंदुस्तान के क्रांतिकारियों से मिले और उनसे विचार-विमर्श किया। यह एक दीर्घ गाथा है जिसे अपनी पुस्तक में मैंने उद्घाटित किया है। वे एम.एन. राय के प्रभाव में थे और राय ने भी उनसे प्रभावित होकर एक बार कांग्रेस का दामन थामा था जबकि वे अधिक समय वहाँ टिक नहीं सके।

क्रन्तिकारी राजा महेंद्र प्रताप, मौलाना बरकतउल्ला, वीरेन्द्र कुमार चट्टोपाध्याय, श्यामजी कृष्ण वर्मा जैसे क्रांतिकारियों का नेहरू ने अपने ढंग से मूल्यांकन भी किया है। वे इनसे विदेश में मिले भी थे। नेहरू ने चंद्रशेखर आजाद की माँ जगरानी देवी का पता लगने पर उन्हें आर्थिक सहायता दी। वे नेता जी सुभाष के निधन के बाद उनकी पुत्री के प्रति भी सहृदय रहे जिसके प्रमाण हैं। रामप्रसाद बिस्मिल की बहन शास्त्री देवी को भी उन्होंने मदद दी। गढ़वाली जी की पत्नी भागीरथी देवी को उन्होंने निरंतर सहयोग किया। दुर्गा भाभी, बटुकेश्वर दत्त, योगेश चंद्र चटर्जी, बाबा पृथ्वीसिंह आजाद, रामकृष्ण खत्री जैसे क्रांतिवीरों से उनका निकटतम संबंध था। आई.एन.ए. डिफेंस कमिटी की ओर से आजाद हिन्द फौज के सिपाहियों के बचाव में मुकदमा लड़ने के लिए तो उन्होंने वर्षों बाद काला कोट पहना था। नेहरू

के भीतर की प्रगतिशील चेतना को व्यक्तित्व और कार्य पद्धति में निरंतर चीन्हा जा सकता है। डॉ. मुल्कराज आनंद ने 30 जून, 1980 को एक पत्र में मुझे लिखा था कि पंडित सुंदरलाल के संदर्भ में यह बताना प्रासंगिक है और दुखद भी कि जवाहरलाल की भांति वह उन कुछ बुद्धिजीवियों में से थे, जो गांधी का अनुसरण श्रद्धा भाव से करते हुए भी, कभी-कभी ऐसा महसूस करते थे कि महात्मा जी का स्वर धार्मिक पुनर्जागरणवादियों जैसा है और यह इस बात का शक पैदा करता है कि उनकी पूर्ण आस्था धर्मनिरपेक्ष भारत के प्रति है। नेहरू और सुन्दरलाल की भांति एम.एन. राय भी कुछ ऐसा ही अनुभव करते थे। इसलिए ये तीनों ही व्यक्ति भारतीय स्वतंत्रता के घोर रुढ़िवादियों द्वारा छिपे हुए 'साम्यवादी की उपाधि' से विभूषित किए जाते थे।

अपने राजनीतिक जीवन के आरंभ से ही क्रांतिकारियों के संपर्क में रहने से नेहरू की वैचारिक यात्रा में कोई परिवर्तन दिखाई देता है?

मैं कह सकता हूँ कि देश स्वतंत्र होने के बाद नेहरू के प्रधानमंत्री बनने पर भी उनकी वैचारिक यात्रा में यह परिवर्तन अत्यधिक परिलक्षित होता है जिसे खुली आँखों से चीन्हें जाने की जरूरत है। भगत सिंह ने अपने जीवित रहते एक आलेख में नेहरू और सुभाष पर लिखते हुए यों ही नेहरू को युगांतरकारी नहीं कहा था। उन्होंने कभी धार्मिक दृष्टिकोण से कोई निर्णय नहीं लिया। एक समय के क्रांतिकारी रहे सुन्दरलाल को उन्होंने 1951 में गुडविल मिशन का नेता बनाकर चीन भेजा था जिसमें मुल्कराज आनंद और आर.के. करंजिया जैसे लोग सदस्य थे। याद करता हूँ कि जिन दिनों नेहरू यहाँ जेल में में बंद थे तब हो ची मिन्ह ने कैद की स्थिति में नेहरू पर एक कविता लिखी थी। बाद में चे ग्वेरा और फिदेल कास्त्रो से उनके संबंध उनकी इसी प्रगतिशील चेतना के प्रबल साक्ष्य हैं।

कई क्रांतिकारी भारत की आजादी के साथ-साथ सम्पूर्ण एशिया के देशों की आजादी का स्वप्न देखते थे। पंडित परमानन्द तथा कई अन्य क्रांतिकारियों ने 'एशिया लिबरेशन कमेटी' बनाई थी, जिसके सचिव मौलाना बरकतउल्ला थे। जापान के प्रधानमंत्री तथा चीन के सनयात सेन भी इस कमेटी में थे। इस तरह के मिशन के पीछे क्रांतिकारियों की क्या सोच थी?

क्रांतिकारियों का नजरिया प्रारम्भ से ही पूरी दुनिया में साम्राज्यवाद के प्रतिरोध का रहा है। असहयोग आन्दोलन की असफलता के बाद 'अनुशीलन' और 'युगान्तर' से प्रेरित क्रांतिकारियों ने जब पहली बार अपने दल को अखिल भारतीय रंग-रूप देते हुए 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसियेशन' का गठन किया तब उसके संविधान में शचीन्द्रनाथ सान्याल ने लिखा था कि वे ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण सम्भव नहीं होगा तथा वे ऐसी दुनिया को बनाना चाहते हैं जिसमें एक देश के द्वारा दूसरे देश का भी शोषण सम्भव नहीं होगा। शोषण के विरुद्ध क्रांतिकारियों की यह वैश्विक चिंता और अभियान था जिसके लिए वे समर्पित थे।

8 अप्रैल, 1929 को भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने दिल्ली की केन्द्रीय असेम्बली में बम का विस्फोट करते हुए दल की नीतियों और लक्ष्यों को बताने के लिए पर्चे फेंकते समय जो नारे लगाए उनमें 'इन्कलाब जिंदाबाद', 'साम्राज्यवाद मुर्दाबाद' और 'दुनिया के मजदूरों एक हो' का उद्घोष था। देखना होगा कि इन क्रांतिकारियों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद मुर्दाबाद नहीं कहा था बल्कि दुनिया के किसी भी कोने में, किसी भूखण्ड पर साम्राज्यवाद के प्रतिरोध में उनका संघर्ष प्रस्तावित और लक्षितथा। उनका दूसरा नारा भी भारत ही नहीं, पूरी दुनिया के मजदूरों की एकता के लिए सम्बोधित था। 'एशिया लिबरेशन कमेटी' का उद्देश्य भी सम्पूर्ण एशियाई देशों से साम्राज्यवाद के अवशेषों को समाप्त करने का था जिसमें जापान तथा चीन के क्रांतिकारियों को जोड़ा गया था। यह क्रांतिकारियों के वैश्विक दृष्टिकोण तथा उनके

संघर्ष के भौगोलिक विस्तार की ओर इंगित करता है। कहा जा सकता है कि विदेशी धरती पर जन्मे और संचालित हुए 'गदर पार्टी' के आन्दोलन से लेकर नेताजी सुभाष चन्द्र बोस के नेतृत्व में संचालित 'आजाद हिन्द फौज' के अभियान में साम्राज्यवाद-विरोधी अन्य देशों के क्रांतिकारियों की उल्लेखनीय सहभागिता रही है।

क्रांतिकारी पं. परमानन्द ने सिंगापुर में गदर पार्टी के माध्यम से क्रांतिकारी गतिविधियों की शुरुआत की। वे लगभग बत्तीस वर्षों तक अंडमान की जेल में रहे। उनका परिवार भी स्वतंत्रता आन्दोलन से जुड़ा रहा। उनसे क्रांतिकारी आन्दोलन के कौन-से किस्से आपको सुनने को मिले?

क्रांतिकारी पं. परमानन्द आजादी के संग्राम के विशिष्ट योद्धा थे। उन्होंने काला पानी की लम्बी कठिन सजा काटी। वहाँ रहते हुए उन्होंने उस द्वीप समूह की कारा के खूँखार जेलर बारी से मुठभेड़ की और अपने हाथों से उन्होंने उस उत्पीड़क अंग्रेज जेल अधिकारी का दर्प चूर कर दिया। पंडित जी बहुत पढ़ाकू व्यक्ति भी थे। उन्होंने खूब अध्ययन किया था। उनका दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। मेरा मानना है कि वे वैश्विक नजरिये के क्रांतिकारी थे। दो घटनाएँ मुझे अक्सर उनके जिंदगीनामे से बार-बार याद आती हैं। पहली तो यह जिस दिन पंजाब के क्रांतिकारी करतार सिंह सराभा को फाँसी दी जाने वाली थी, पंडित जी जेल में उनके निकट की बैरक में बन्द थे। उन्होंने बहुत सवेरे करतार को जोर से आवाज दी, "करतार क्या कर रहे हो?" करतार ने ऊंचे स्वर में उत्तर दिया, "पंडित जी, कविता लिख रहा हूँ। सुनागे?" करतार ने सुनाया, "जो कोई पूछे कौन हो तुम, तो कह दो बागी नाम हमारा। जुल्म मिटाना हमारा पेशा, गदर को करना है काम अपना। श्रीपाठ पूजा यही हमारी, यही खुदा और राम अपना।" पंडित जी ने करतार की इस कविता का उत्तर भी कविता से ही दिया, "हम तुम्हारे मिशन को पूरा करेंगे साथियों, कसम हर हिन्दी तुम्हारे खून की खाता है आज।" इसके कुछ देर बाद ही करतार को फाँसी दे दी गई। सोचिए इस कविता के बारे में, जैसे कवि वैसे श्रोता। क्या इस कविता का शुमार हिन्दी की प्रगतिशील कविता में नहीं किया जाना चाहिए? लेकिन दुःख है कि हिन्दी की दुनिया करतार को नहीं जानती, पंडित परमानन्द को भी नहीं। इस कविता से भी उसका नितान्त अपरिचय है। यह हिन्दी वालों की सीमाएँ हैं जिसमें वे कस कर बंधे हुए हैं। उनका आधुनिकतावाद और प्रगतिशीलता इस ओर देख पाने में पूर्णतः असमर्थ है।

मैं पंडित जी से मिला तब वे काफी वृद्ध और अशक्त हो चुके थे। उनके दोनों हाथों में कम्पन होने लग गया था। मैं उनके चरण-स्पर्श कर सका और उन हाथों को भी छू सका जिन्होंने अन्दमान में अंग्रेज जेलर बारी को मारा था। लखनऊ की बारादरी में शहीद यतीन्द्र के बलिदान स्मृति आयोजन में उनसे हुई पहली भेंट में वे मुझे भारतीय ऋषि तुल्य लगे थे। सिर पर लम्बे केश और सीने तक लहराती दाढ़ी। मैं तो उनके चेहरे की आकृति को देखता ही रह गया। पं. नेहरू ने एक बार उनसे लोकसभा का चुनाव लड़ने का प्रस्ताव किया था लेकिन पंडित जी ने इसके लिए मना कर दिया। संसदीय राजनीति उनकी विद्रोही प्रकृति के अनुकूल नहीं थी। उनकी मुखाकृति मैं कभी विस्मृत नहीं कर सकता। मेरे निजी संग्रह में भारतीय क्रांतिकारी परम्परा में त्रिमूर्ति की एक तस्वीर सुरक्षित है जिसमें पंडित परमानन्द, 'भारत में अंग्रेजी राज के लेखक कर्मवीर पंडित सुन्दरलाल और उर्दू 'स्वराज्य' के नवें सम्पादक अमीरचन्द बम्बवाल, जो फरार घोषित हुए थे, एक साथ खड़े दिखाई पड़ रहे हैं। मैं प्रायः उस संयुक्त चित्र को निहारता हूँ। कोई किसी से कम नहीं--काके लागूँ पाँय? ऐसे में एक सभा का किस्सा मुझे और याद आता है। यह कहाँ हो रही थी इसका मुझे ठीक से अब स्मरण नहीं आ रहा। मंच पर कई पुराने क्रांतिकारी और पंडित परमानन्द बैठे हुए थे। सुन्दरलाल जी माइक पर बोल रहे थे। उनकी भाषण कला तो अद्‌भुत थी। अपने सम्बोधन के मध्य एकाएक उन्होंने कहा, "बात पुरानी है जबकि मेरे साथ एक लड़का

इलाहाबाद के बंद कमरे में बम में मसाला भर रहा था कि उसी समय अचानक विस्फोट हो जाने से उसके दोनों हाथ जल गए। हम घबरा गए। यह हमारे लिए चिन्ता की बात थी।" इतना कह कर सुन्दरलाल जी चौंकाने के लहजे में श्रोताओं से बोले, "क्या आप उस लड़के से मिलना चाहेंगे?" सभी की दृष्टि भाषण करते हुए सुन्दरलाल जी पर टिक गई। तभी दो पल रुक कर उन्होंने अपने अंदाज में पास बैठे पंडित परमानन्द के सिर पर हाथ रखते हुए कहा, "यह है वह लड़का।" यह सुनकर सभा में हँसी का फव्वारा फूट पड़ा और सभी की नजरें पंडित परमानन्द पर टिक गईं और उनके प्रति श्रद्धावनत हो उठे।

क्रांतिकारी आन्दोलन में यशपाल की भूमिका को लेकर कई तरह की बातें होती रही हैं। क्रांतिकारी जयदेव कपूर 'सिंहावलोकन' को यशपाल द्वारा अपने डिफेंस में लिखी गई रचना मानते थे। यशपाल प्रसंग पर आपका क्या कहना है?

'सिंहावलोकन' पर जयेदव कपूर ने ऐसा मुझे बहुत भरोसे से कहा था। इसे उनकी सजग और पैनी लेकिन निष्पक्ष मूल्यांकनपरक टिप्पणी की तरह देखा जाना चाहिए। मन्मथनाथ गुप्त ने एक समय अपने सांकेतिक लहजे में अत्यंत गंभीरता से कहा था कि भगतसिंह पर बहुत तथ्यपरक ढंग से लिखने के बाद यशपाल जब चंद्रशेखर आजाद पर लिखने चले तो उनकी स्याही में थोड़ी कमी रह गई थी। हमें उनके इस कथन की सूक्ष्मता और गहराई को समझना चाहिए। यशपाल की प्रतिक्रांतिकारी भूमिका का खुलासा तो क्रांतिकारी विश्वनाथ वैशम्पायन, सुखदेव राज और शहीद सुखदेव के भाई मथुरादास थापर की पुस्तकों से हो जाता है। धर्मेन्द्र गौड़ ने भी 'चन्द्रशेखर आजाद और उनके गद्दार साथी' में सप्रमाण इसका साक्ष्य प्रस्तुत किया है और अब तो लोकभारती प्रकाशन से छपी प्रताप गोपेन्द्र की अत्यन्त खोजपूर्ण पुस्तक में भी यशपाल का छद्म पूरी तरह उजागर हो जाता है।

यशपाल ने क्रांतिकारी दल के विश्वासघाती वीरभद्र तिवारी को बचाने के लिए 'सिंहावलोकन' और अन्यत्र भी तथ्यों को खूब तोड़ा-मरोड़ा और घालमेल किया है, जो छिपा नहीं रह सका। इसका सबसे बड़ा उदाहरण भगवतीचरण वोहरा की शहादत के बाद उनके शव को रावी में बहा देने का गढ़ा गया झूठ है जबकि उनके मृत शरीर को गड्ढा खोद कर दफना दिया गया था क्योंकि रावी की कम जलधारा की छाँड़ में उसे बहा देना किसी तरह खतरे से खाली नहीं था, न ही यह सम्भव था। आगे चलकर दल के जिस सदस्य की शिनाख्त पर भगवतीचरण की अस्थियों को खोदकर अदालत में पेश किया गया, उस पूरे प्रसंग को ही यशपाल ने नई कहानी गढ़ कर सिरे से अनुपस्थित कर दिया। यह उनका कथा-कौशल है। यशपाल की इस भूमिका पर अब तक बहुत कुछ कहा और लिखा जा चुका है, भले ही यशपाल-साहित्य के समीक्षक मुधरेश वास्तविकता से मुँह मोड़ते और उस पर अनावश्यक पर्दा डालते रहें। आजाद के साथी क्रांतिकारी वैशम्पायन और सुखदेव राज की कृतियाँ मैंने इसी उद्देश्य से अपने सम्पादन में पुनर्प्रकाशित करा दीं जिससे सत्य पर आवरण डालने की ऐसी कोशिशों को समझा जा सके। अब आप भगवतीचरण के शव को रावी में बहा देने या मिट्टी में दबा देने के प्रसंग को देखें तो क्या कारण था कि क्रांतिकारी शिव वर्मा अपनी पुस्तक 'संस्मृतियाँ' में उसे पानी में बहाने का जिक्र करते हैं जबकि हिमांशु जोशी की सम्पादित पुस्तक 'उत्सर्ग' में शिव दा उसे जमीन में दफनाने की बात लिख रहे हैं, तो आखिर क्यों? 'उत्सर्ग' की प्रति मुझे भगवतीचरण की पत्नी क्रांतिकारी दुर्गा भाभी ने स्वयं लखनऊ के अपने विद्यालय में रहते समय भेंट की थी जिसमें भगवतीचरण पर कई आलेख और संस्मरण हैं। मेरा दावा है कि 'सिंहावलोकन' की असलियत स्वयं उजागर हो जाती है कि यदि यशपाल पर दूसरे क्रांतिकारियों का कहा-लिखा पढ़ लिया जाये। उसमें अपनी तरफ से कुछ जोड़ने की जरूरत नहीं है। 'दादा कामरेड' में भी आजाद के व्यक्तित्व को कथा के मार्फत ओछा दिखाने का लेखकीय कौशल (षड्यंत्र) दृष्टव्य है।

क्रांतिकारी आन्दोलन में कई क्रांतिकारियों को भयंकर शारीरिक प्रताड़ना झेलनी पड़ी। डॉ. गयाप्रसाद उनमें से एक थे। वे लंबे समय तक अंडमान की जेल में रहे। आप जब उनसे मिले तो क्रांतिकारी जीवन के कौन से अनुभवों को उन्होंने आपसे साझा किया?

भगतसिंह के साथी काला पानी में रहे डा. गयाप्रसाद से मिलना मेरे जीवन का भिन्न अनुभव रहा। क्रांतिकारी जयदेव कपूर मुझसे अक्सर कहा करते थे कि मैं डाक्टर साहब के कानपुर के निकट जगदीशपुर गाँव की यात्रा जरूर करूँ। एक दिन वे बोले कि कानपुर तक बस से जाकर फिर उनके घर तक जाने के लिए खड़खड़े पर बैठकर जाना होगा जिसमें घोड़ा जुता होता है और जिसके पतले पटले पर उकड़ूँ बैठना एक कठिन कवायद है। उस रोज मैं कानपुर के सूटरगंज में क्रांतिकारी शिव वर्मा के घर ठहरा था कि एकाएक डाक्टर साहब के गाँव जाने का इरादा बन गया। चलते समय शिव दा मुझसे बोले, "डॉक्टर अपने जेल जीवन के कष्टों की किसी से चर्चा नहीं करते, तुम उनसे बातचीत में कुछ निकलवा सको तो बड़ी बात होगी।" गाँव में उनका पक्का मकान, चौपाल, बाहर बड़ा-सा चबूतरा और खुली जगह, घने नीम का छाँव। यहीं उस दुपहरी में मैंने डाक्टर साहब के साथ बैठकर रेडियो पर नेल्सन मंडेला की रिहाई का समाचार सुना। डॉक्टर साहब बहुत सीधे-सादे, नेकदिल और सच्चे इन्सान थे। स्थूल, ठिगना शरीर। थोड़ा गोल-मटोल। जेल में उनकी सबसे अधिक मार पड़ी। दूसरे दुबले-पतले क्रांतिकारी साथियों के हिस्से की मार भी उन्हें खानी पड़ती थी। उन्होंने बन्दी जीवन में अनेक लम्बी भूख हड़तालों में हिस्सा लिया। सहारनपुर में उनकी गिरफ्तारी की रोमांचकारी कहानी के साथ ही जेल के कष्टों की भी लम्बी फेहरिस्त है, पर डॉक्टर साहब उस दिन भी अधिक खुले नहीं।

भारतवीर मुकुंदीलाल के बारे में कुछ बताइए? उनके नाम से ही कुछ अलग ध्वनित होता है?

भारत वीर मुकुंदी लाल गजब के क्रांतिकारी थे। वे मैनपुरी केस से लेकर काकोरी केस तक से जुड़े हुए थे। मुकुंदी लाल ने बेहद गरीबी में जीवन बिताया जबकि वो जमींदार परिवार से थे। उन्हें जीवन के एक दौर में एक जमींदार के यहाँ भैंसों की सानी करने का काम करना पड़ा था। इतने कष्ट में रहने के बावजूद किसी ने उनकी तरफ देखा तक नहीं। हमारी यही तो पीड़ा है।

बंगाल की दो क्रांतिकारी बहनों सुनीति चौधरी और शांति घोष की कहानी आपको कैसे पता चली?

हमारा किसी एक जगह के क्रांतिकारियों पर ध्यान नहीं रहा। हम तो चाहते थे कि सम्पूर्ण क्रांतिकारी आंदोलन की तस्वीर को सामने लाया जाए। खास तौर पर महिलाओं के योगदान को। महिलाओं का क्रांतिकारी आंदोलन में बड़ा योगदान है। आज समाज में महिला अधिकारों की बात बहुत ज्यादा की जाने लगी है। महिलाओं का संसद, विधानसभा, ज्युडीशिरी में इतना आरक्षण हो। सब जगह महिलाओं के आधिकार की बात हो रही है। लेकिन महिला क्रांतिकारियों को देखें तो पता चलेगा कि इन क्रांतिकारी महिलाओं ने संघर्ष में अपना भाग खुद तय किया था, अधिकार नहीं माँगे थे। वहाँ केवल स्त्री मुक्ति का सवाल नहीं था। मुक्ति शब्द का प्रयोग रूढ़ अर्थ में नहीं था। देश की सम्पूर्ण मुक्ति में ही स्त्री की मुक्ति निहित थी। महिला क्रांतिकारियों में जैसे दुर्गा भाभी, सुशीला दीदी आदि का योगदान बड़ा है। बंगाल की क्रांतिकारी भूमि बहुत उर्वर है। वहाँ का आत्मकथा साहित्य बहुत समृद्ध है। हमें 1980 के दशक की धुँधली-धुँधली याद है। हमने अभी क्रांतिकारियों के साथ सम्मेलनों में जाना शुरू किया था। यतीन्द्रनाथ दास की बलिदान अर्द्ध-शताब्दी पर पहला कार्यक्रम 1979 में लखनऊ के बारादरी में हुआ था। कार्यक्रम में पंडित परमानंद जी भी आए थे। दुर्गा भाभी और प्रतिभा सान्याल ने मिलकर यतीन्द्रनाथ दास पर डाक टिकट जारी किया था। इनके अतिरिक्त जयदेव कपूर आदि क्रांतिकारी कार्यक्रम में शामिल हुए थे। उसके बाद 1980 में बंगाल में कार्यक्रम किया गया। बंगाल में हम जयदेव

दा के साथ पहुँचे थे। हमारा साथ में ही रिजर्वेशन था। देश भर से क्रांतिकारी वहाँ आये थे। उस कार्यक्रम से बंगाल के क्रांतिकारियों को देखने-जानने का मौका मिला। गणेश घोष से मिले जो चटगाँव केस से जुड़े थे। उनका काफी दबा हुआ रंग था और हाइट बहुत अच्छी थी। वे सीपीएम के चुने हुए सांसद भी रहे। हम दो-तीन लोग पहले पहुँच गए थे और यतीन दास के घर ही रुके थे। बाद में कुलतार सिंह और उनकी पत्नी, पंडित किशोरी लाल भी वहाँ आ गये थे।

आयोजन में बीना दास भी आयी थीं। बीना दास से खूबसूरत महिला मैंने नहीं देखी। बीनादास जब अपनी डिग्री लेने गई थीं तभी गवर्नर पर गोली चला दी थी। कैसी चेतना थी गुलाम भारत में। उस चेतना को सलाम करने को जी चाहता है। हमने इस कार्यक्रम में उनको भी सुना था। वह बांग्ला में बोलीं। बांग्ला न जानने के कारण हम चाहते हुए भी उनकी बातों नहीं समझ सके। इस दृश्य से ही अभिभूत थे कि हम बीना दास को देख रहे हैं। वहीं पर सुनीति चौधरी और शांति घोष को भी देखा था। यह भी हमारे पास डायरी में नोट है। अभी कुछ महीने पहले मेरे बेटे ने कलकत्ता में एक नौकरी शुरू की। उसको ज्वाइन कराने और आवास की व्यवस्था करने मैं भी कलकत्ता गया था। भारतीय भाषा परिषद के अतिथि गृह में हम ठहरे थे। परिषद के पुस्तकालयाध्यक्ष बालेश्वर राय से जान-पहचान हो गयी। उसी बिल्डिंग में हिस्टोरिकल स्टडीज सेंटर है। हमने हिस्टोरिकल सेंटर के कैटलॉग में देखा कि वहाँ शांति घोष की पतली सी आत्मकथा उपलब्ध थी। इसी पुस्तकालय में एक किताब और दिखाई दी त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती की 'जेल में तीस बरस'। शांति घोष की आत्मकथा का नाम था 'अरुण वह्नि' यानी हिन्दी में 'लाल अग्नि'। किताब का नाम और सीरियल नंबर नोट करके परिषद के पुस्तकालयाध्यक्ष के पास आए। वह हमारे लेखन की शैली से बहुत प्रभावित थे। हमने उनसे कहा कि मेरा एक काम है। पर्ची दिखाते हुए कहा हमें यह आत्मकथा 'हिस्टॉरिकल स्टडीज सेंटर' से फोटोकॉपी करवा दीजिए। उन्होंने वहाँ के पुस्तकालयाध्यक्ष से बात की और कैसे भी करके अगले दिन वो आत्मकथा मुझे मिल गई।

हमने आत्मकथा हिंदी में अनूदित कराई तो पता चला कि ये तो अद्‌भुत आत्मकथा है। आत्मकथा से पता चला कि आजादी के बाद शांति घोष ने राजनीति में हिस्सेदारी की थी। वह सीपीएम के टिकट पर विधानसभा सदस्य और विधान परिषद सदस्य रहीं। आत्मकथा में सुनीति चौधरी का जिक्र था जिन्होंने कोमिला के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट चार्ल्स स्टीवेंस पर गोली चलाई थी। एक दिन हम कम्प्यूटर पर कुछ काम कर रहे थे। हमने देखा कि अंग्रेजी में भारती सेन द्वारा लिखित एक लाइन आ रही थी कि सुनीति चौधरी मेरी माँ थीं। साथ में ये भी लिखा था कि उन्होंने जो लिख छोड़ा है उसके आधार पर हम एक किताब लिख रहे हैं। मैं कम्प्यूटर ज्यादा जानता नहीं हूँ। इसलिए मैंने उसका स्क्रीनशॉट ले लिया। अब हमने भारती सेन की खोजबीन शुरू की। मेरे पास उनका मुंबई का पता जो पहले से डायरी में जो नोट था, उसमें उनका नाम आरती सेन लिखा हुआ था। हमने शाहजहाँपुर के एक व्यक्ति को उस पते पर भेजा जो वहीं रह रहे थे। वे उसी जगह पहुँच भी गये लेकिन वहाँ आरती सेन के बारे में आसपास के लोग बता नहीं पा रहे थे। हम निराश हो गये। मैं उसकी खोज में बहुत बेचैन था कि जब तक आत्मकथा का दूसरा हिस्सा यानी उनकी सहयोगिनी का नहीं ले आयेंगे, तब तक तसल्ली नहीं होगी। हमें हैरत होती है कि कलकत्ता के पास दुर्गापुर में एक ईशान बेरा नाम का कक्षा दस का छात्र रहता है। जिसका घर का नाम बबली है। मुझे जब भी किसी क्रांतिकारी आंदोलन से जुड़े दस्तावेज की जरूरत होती है वो समय निकालकर भेज देता है। अब यदि वो परीक्षा में व्यस्त है तो मैसेज से बता देता है। ईशान ने हमसे कैसे संपर्क किया, याद नहीं आ रहा है। हमने उसको सुनीति चौधरी के बारे में बताया और उनका फोन नंबर खोजने के लिए कहा। हमने उसको बताया कि कलकत्ता में अमुक जगह पर उनके परिवार के लोग रहते हैं। तीसरे दिन उसने उनका फोन नंबर हमें भेज दिया। हमने फोन मिलाया तो बातचीत हो गयी। उन्होंने कहा, हमने जो लिखा है, वह अंग्रेजी में है। एक छोटी सी किताब है। वो

किताब मुझे भेज दी। हमने उनसे वादा किया कि हम ट्रांसलेट कराके उसको छपायेंगे। बातचीत में वे बेहद पढ़ी लिखी लगी। हमारे साथी बरेली कॉलेज के पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ. सुभाष चंद्र ने उसका अनुवाद किया। चूँकि वे पेशेवर आदमी हैं नहीं इसलिए अनुवाद में सात-आठ महीने लगा दिये। भारती सेन कैंसर जैसी बीमारी से ग्रस्त हैं इसलिए अनुवाद में हो रही देरी से निराश हो गयीं। दूसरे चूँकि ये किताब बहुत पतली थी इसलिए किताब को बढ़ाने के लिए कुछ और जोड़ा। संवाद प्रकाशन मेरठ से जो मेरी भूमिका के साथ आत्मकथा 'अरुण वह्नि' छपी है उसमें से शांति घोष ने सुनीति चौधरी के बारे में जो लिखा है वह हिस्सा इस किताब में शामिल कर लिया। इसके साथ सुनीति चौधरी पर एक लेख अलग से लिख दिया तो वाल्यूम बढ़ गया। उनके सामने पुस्तक पहुँचने में देर तो हुई लेकिन किताब देखकर प्रसन्न हुईं। कहने लगीं मुझे लग रहा था कि मैं शायद इसे देख नहीं पाऊँगी। दरअसल ऐसे काम करके मुझे तसल्ली मिलती है। यही हमारा पारिश्रमिक है। काम वह करें जो कोई नहीं कर रहा है। यदि नए साथी आएँ और इस दिशा में काम करें तो बहुत सी चीजें बचाई जा सकती हैं। मेरे पास ऐसी बहुत सी फाइलें हैं जिसे लेकर कोई भी किताब लिख सकता है। एक व्यक्ति की काम करने की सीमाएँ है। सारे काम वह अकेले तो नहीं कर सकता।

आपने क्रांतिकारियों से लेकर शहरों और अपने परिजनों तक पर लिखा है। इतिहास को खंगालते-खंगालते जब परिजनों पर लिखते हैं तो क्या भावुकता हावी रहती है?

हमारे लेखन में आप तलाशिए तो भावुकता दोनों जगहों पर रहती है। जैसे दुर्गा भाभी के बहुत संग-साथ रहे हैं। वे इस उम्र में पहुँच गई थीं कि हम उनको बच्चे जैसे चिढ़ाने लगते थे, वैसी बातें करने लगते थे। वैसे ही आजाद की माँ पर लिखते हुए मैं बार-बार रोया। उन्होंने बहुत कठिन जीवन जिया और बहुत उपेक्षा झेली। किसी ने उनका खयाल नहीं किया। ये सब सोचकर हम द्रवित हो जाते हैं। अब जहाँ तक परिवार के लोगों पर लिखने का ताल्लुक है तो वहाँ भी भावुकता का असर है। 1990 में हमने अपना बेटा खोया था। बेटे के एक्सीडेंट की खबर अचानक हमें मिली थी। अस्पताल जाने तक की याद है। लेकिन तब तक हमें यह नहीं पता था कि वह मर चुका है। अस्पताल में बहुत भीड़ थी। उस समय हम मजदूर यूनियन के जिला संयोजक थे। हमारा बड़ा परिचय क्षेत्र था। वह दौर और था। पत्नी रो रही थी, इतना ध्यान है। हम कुछ मामलों में बेहद कमजोर हैं। हम कैसे घर आए, कौन लाया, आज तक मुझे नहीं पता। मेरी हालत इतनी खराब थी कि हम बेटे की चिता को अग्नि भी नहीं लगा सके। सुरेश खन्ना जी मुझे पकड़कर श्मशान भूमि तक ले गये। वहाँ से लौटे तो मेरी हालत और खराब हो गई। दो डॉक्टर हमें हर दिन देखने आते थे और मशविरा करके दवाई देते थे। जिसमें नींद की दवा भी होती थी। मैं पाँच महीने बिस्तर पर पड़ा रहा। मुझसे पाँच महीने खाना नहीं खाया गया। केवल दूध में दवाई घोलकर दे दी जाती थी। मेरी इस हालत को देखकर घर वालों को चिंता हो गई कि यह कैसे बचेंगे। पिता उस समय जीवित थे। ठीक उसके एक-दो दिन पहले यह हुआ कि हमारे मित्र अमितेश अमित अपनी माँ के साथ घर आये थे। उनकी माँ घर से कुछ खाना बनाकर ले आई थीं। उन्होंने सबको हमारे पास से हटाकर कहा, हम इनको खाना खिलायेंगे। उस दिन उन्होंने दबाव डालकर तीन-चार कौर खाना खिलाया और गुनगुना पानी पिलाया। न जाने कैसे मुझे खाने में स्वाद आ गया। हमारे जानने वाले एक सीनियर वकील नरेंद्र कुमार सक्सेना ने हमारे चाचा से कहा, "इसको रुलाओ नहीं तो ये बच नहीं पायेगा।" उसके बाद हमने पत्नी से टाइपराइटर पास रखने को कहा। उसने कहा, करना क्या है? मैंने कहा, रखो नहीं तो हम बच नहीं पायेंगे। 'मेरा राजहंस', किताब की तरह नहीं लिखी गयी, ये अपने को बचाने के लिए लिखी गई। एक उच्छवास जैसा आया, कोई हूक जैसी उठी, उसी को मैंने दर्ज कर दिया।

उस किताब में हमारा बेटा बार-बार मरता है। उसकी पता नहीं कितने मौतें हो जाती हैं। ये सब

हमने आठ दिन तक रो-रोकर लिखा है। हम तो किताब को प्रकाशन के लिए भेजने की स्थिति में भी नहीं थे। हमारे मित्र चंद्रमोहन दिनेश ने इसे प्रकाशन के लिए दिल्ली भेजा था। 'मेरा राजहंस' के प्रकाशन से हमारी हालत थोड़ी संभल गई। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' हमारी स्थिति जानकर बहुत चिंतित हुए। उनका एक पत्र आया था जो बाद में छपा भी। पत्र में लिखा था सुधीर, तुमने हिंदी में अपने बेटे का ताजमहल बना दिया। उस समय तो उनकी बात समझ में नहीं आई। लेकिन दस साल बाद लोगों की संस्मरण पर नजर पड़ी। 'मेरा राजहंस' के विमोचन में बाबा(नागार्जुन) नहीं आ पाए थे। 'अलाव' के संपादक रामकुमार कृषक और हरिपाल त्यागी को भेजा था। किताब विभिन्न जगहों पर भेज दी गई। ऐसा करते हुए लग रहा था कि कुछ काम में लगे हैं। लेकिन तब लोगों का इस संस्मरण पर ज्यादा ध्यान नहीं गया। एक समीक्षा 'सारिका' पत्रिका में राजेंद्र राव ने लिखी थी। राजाराम भादू ने 'दिशाबोध' पत्रिका में समीक्षा लिखी थी। उसका शीर्षक याद रह गया, 'त्रासदी से फूटता विश्वास का निर्झर'। पिता पुत्र संबंध पर हिंदी में ऐसी कोई रचना नहीं है। दस साल बाद कुछ नाट्य निर्देशकों ने सोचा क्यों न इस रचना को मंच पर उतारा जाए। अब सवाल यह था कि एक पिता ने जिस पीड़ा को कागज पर उतारा है उसे मंच पर एक निश्चित समय में कैसे उतारा जाए? वो सब अभिनेता कैसे कर पायेगा? नाट्य निर्देशक राजेश कुमार ने उस नाटक में कोई संवाद या नाट्य लेखन नहीं किया बल्कि उस रचना के किसी हिस्से का संक्षिप्तीकरण किया तो कहीं कुछ आगे का पीछे करके डेढ़ घंटे की रचना बनाकर पेश किया। शायद हिंदी में पहला प्रयोग था और भारतीय भाषाओं में तीसरा। जहाँ संस्मरण का सीधे मंचन किया गया था। उसके पचास से अधिक शो हो चुके हैं। फिल्म बनाने के लिए भी संवाद लिखे चुके थे पर निर्देशक को प्रायोजक नहीं मिला। इसलिए फिल्म बन नहीं पाई। अब वह कैसी रचना है? क्या है? यह तो दूसरे लोग बतायेंगे। हमने तो अपने आप को बचाने के लिए लिखी थी।

दूसरा संस्मरण पिता पर है जो 'कथादेश' पत्रिका में छपा था। शीर्षक था 'मशहूर-आलम जंत्री पढ़ते हुए तुम कौन-सा भविष्य बाँचते थे पिता!'। माँ पर जो संस्मरण लिखा है वो 'वर्तमान साहित्य' पत्रिका में 'अम्मा का पानदान' शीर्षक से छपा था। हम सोचते रहते हैं लेकिन इसका जवाब नहीं मिलता कि पिता पर ज्यादा अच्छा संस्मरण लिख सके लेकिन माँ पर नहीं। क्या इसलिए कि हम पुरुष हैं। हालांकि इस संस्मरण को नमिता सिंह ने कहानी के रूप में छाप दिया था। कभी जब किसी के सामने रचना सुनाने की बात आती है तो पिता वाली रचना सुनाने की इच्छा होती है। हम दो बार ऐसा कर चुके हैं। पत्नी पर लिखे संस्मरण 'एक इबारत जो लहूलुहान है' को 'कथादेश' ने छापा था। पत्नी 'प्रियतम हृदय स्पर्श' आदि संबोधनों से मुझे चिट्ठियाँ बहुत अच्छी लिखती थीं। यद्यपि वे बहुत पढ़ी-लिखी नहीं थी लेकिन उनके मायके में तर्क और बहस का खुलापन था। उनके भाई ने एक सहकारी पुस्तकालय स्थापित किया था। पत्नी ने रवीन्द्र और शरतचंद्र का बहुत सारा साहित्य पढ़ रखा था। जबकि हमारे साहित्य में उनकी बहुत दिलचस्पी नहीं थी। पत्नी की सारी चिट्ठियाँ बक्से में रखी हुई हैं। तीन बार उनकी चिट्ठियों को निकालकर पढ़ने का साहस किया लेकिन एक-दो ही चिट्ठियाँ पढ़ पाए। मैं परेशान हो गया। 'मेरा राजहंस' संस्मरण में एक छोटी चिट्ठी का जिक्र है बस! वो संस्मरण चिट्ठियों के बगैर ही लिखा गया। उन चिट्ठियों को खोलने का आज भी साहस नहीं है। जो भी लिखा, वह आधा अधूरा है। वैसे कोई रचना कभी पूरी नहीं होती। दुःख के बारे में हमारा यह मानना है कि दुनिया में कोई भी भाषा ऐसी नहीं है जो दुःख को पूरी तरह से व्यक्त कर सके। वह केवल महसूस करने की चीज है।

आप क्रांतिकारियों तथा उनके परिजनों से जुड़ी सामग्री की तलाश में भटकते रहे हैं। इस दौरान आपने क्या अनुभव किया? क्या गाँवों में उनकी पहचान बची है?

नहीं। पहचानें तो नहीं बची हैं। मुझे लगता है कि कुछ नायक हमने ऐसे चुन लिए हैं उनको याद

करने के अलावा अन्य लोगों को याद नहीं किया जाता। क्रांतिकारी दल भले ही एच.आर.ए. से एच.एस. आर.ए. बन गया हो लेकिन अंततः वह एक छापेमार लड़ाई थी। उसमें अनेक लोगों का योगदान था। बहुत से लोगों को हमने भुला दिया। अब उनके निशानात भी नहीं बचे हैं। हमें इस मामले में बहुत दिक्कत हुई। जब जाकर चीजों को खोजा तो पता चला उनकी चीजें नष्ट हो गई हैं, मिल नहीं रही हैं लेकिन एक प्रयास तो करना ही पड़ेगा। जैसे भगत सिंह पर काम करने वाले लोग यह नहीं देखते हैं कि भगत सिंह या चंद्रशेखर आजाद के समय एच.एस.आर.ए. ग्रुप का कितना बड़ा काम था। उन सारे लोगों का इतिहास सामने लाया जाना इसलिए भी जरुरी है क्योंकि इसके बिना हम पार्टी को पीछे कर रहे हैं, व्यक्ति को आगे कर रहे हैं। जो क्रांति उस समय की थी वो भी पार्टी ने की थी व्यक्तियों ने नहीं की थी। व्यक्ति तो होते ही हैं। शिव वर्मा कहा करते थे कि क्रांति के लिए जरूरी है कि जो सत्ता है उसका फौज पर से विश्वास उठ गया हो। एक क्रांतिकारी पार्टी ऐसी हो जो क्रांति करने के लिए तैयार और सक्षम हो और क्रांति संपन्न हो जाने के बाद सत्ता का संचालन करने में भी सक्षम हो। यदि हम व्यक्तियों को आगे करेंगे तो सत्ता का संचालन कोई एक व्यक्ति तो नहीं कर लेगा। अनेक कामयाबियों के बावजूद नेहरू हमें कई मौकों पर असफल दिखाई देते हैं। नेहरू बड़ी वैज्ञानिक चेतना के व्यक्ति थे। किसी ने कहा था, मुझे पूरी बात याद नहीं लेकिन आशय यह था कि नेहरू के स्पर्श से राजनीति बहुत उज्ज्वल हो गई। यह सही बात है लेकिन कोई व्यक्ति जब संचालन करता है तो उसकी अपनी सीमाएँ भी होती हैं। जैसे नेहरू धर्मनिरपेक्ष थे, धर्म से उनका कोई वास्ता नहीं था और अपने समय में उन्होंने डॉ. राजेंद्र प्रसाद का इसलिए विरोध भी किया था कि वे सोमनाथ मंदिर का उद्घाटन करने न जाएँ। यहाँ तक कि डॉ. राजेंद्र प्रसाद बरेली के चुन्ना मैया मंदिर में आए और उन्होंने ब्राह्मणों के चरण पखारे।

अफसोस यह होता है कि सारे क्रांतिकारी वैज्ञानिक चेतना से जुड़े लोग यह कहते रहे कि धर्म और राजनीति का पृथकीकरण होना चाहिए लेकिन अब तो धर्म ही राजनीति की कुर्सी पर जाकर बैठ गया है। ऐसे में शहीदों के सपने तो सब ध्वस्त हो गए। मौजूदा राजनीति का स्वरूप बहुत निराश करने वाला है। लेकिन उम्मीद रखनी चाहिए कि चीजें यही नहीं बनी रहेंगी। किंतु अपेक्षित परिवर्तन के लिए जिस बड़े संग्राम और समर्पण की जरूरत है तथा जिस एका की जरूरत है वह नहीं है इसलिए भगतसिंह पर हम अलग-अलग ढंग से सोचते रहते हैं। मैं सोचता हूँ कि भगत सिंह पर काम करने वाले लोग, भले ही वो दस्तावेजीकरण ही कर रहे हों, क्या इन पाँच-सात लोगों में किसी अभियान के लिए कोई ऐसी एकता हो सकती है, जिसके लिए थोड़ा भी खतरा हो? सोचो भगत सिंह के समय तो कितने लोग फाँसी चढ़ गए और कहीं विचलित भी नहीं हुए। अशफाक़ ने काकोरी के एक्शन का सीधे-सीधे विरोध किया था। बिस्मिल से कहा था कि काकोरी का एक्शन अभी न किया जाए हमारा दल अभी नया है। अगर यह करेंगे तो सरकार हमारे ऊपर दबाव डालेगी, सदस्यों को पकड़ेगी और दल टूट जायेगा, अभी काम करने की जरूरत है। लेकिन जब यह बहुमत से तय हुआ कि काकोरी का एक्शन करना है तो सबसे आगे चलने वालों में अशफाक़ थे। समय ऐसा आ गया है कि सब अपनी पहचान बनाने के लिए, अपने नाम के लिए काम कर रहे हैं तो ऐसे में भगत सिंह पर बात करना एक फैशन की बात हो सकती है।

क्रातिकारियों की माँओं पर किताब लिखने की योजना कैसे बनी?

ये सब कुछ 'बिदाय दे माँ' किताब में दर्ज है। अशफाक़ उल्ला खाँ के व्यक्तित्व को गढ़ने में उनकी माँ का बड़ा योगदान है। राजकुमार सिन्हा और विजय कुमार सिन्हा दोनों बड़े क्रांतिकारी थे। काकोरी केस में दोनों जेल में थे और अनशन कर रहे थे। राजकुमार सिन्हा मरणासन्न हो गए थे। उस दौर के क्रांतिकारी शिवकुमार मिश्र जो बाद में कम्युनिस्ट आंदोलन के बड़े नेता बने। जब वे दोनों लड़कों-राजकुमार सिन्हा और विजय कुमार सिन्हा के मरणासन्न होने का समाचार लेकर उनकी माँ के पास पहुँचे और

समाचार सुनाते हुए रोने लगे। तो मां ने फौरन डाँटा, "कैसा क्रांतिकारी है, जो रो पड़ता है। क्या करोगे तुम? मुझे देखो मैं तो दो-दो बेटों की माँ हूँ और मेरे लड़के जेल में भी अनशन कर रहे हैं।" क्या उस साहसी माँ के भीतर पीड़ा नहीं रही होगी? उस पीड़ा को कौन व्यक्त करेगा? आजादी के बाद के दौर में चन्द्रशेखर आजाद की माँ ने कितना दर्द सहा, कितनी उपेक्षा झेली, कितने अभावों में जीवन बिताया। मैं न जाने क्यों इन माँओं की तकलीफों को अपना मानकर सीने पर दर्द झेलता रहा। क्या इन्हें कहीं दर्ज नहीं किया जाना चाहिए? मुझे लगा कि यह अनुभूतियाँ हमें लिखनी चाहिए।

हम मैक्सिम गोर्की के 'माँ' उपन्यास को तो पढ़ लेते हैं और गर्व के साथ बताते भी हैं। लेकिन हमारा जो कुछ भी देशज है उसकी तरफ देखना नहीं चाहते। हमें बहुत सारी माँओं के चित्र ही नहीं मिले। हम उन माँओं की कल्पना ही करते रह गये। क्रांतिकारी मणीन्द्र बनर्जी के परिवार के हम बहुत नजदीक रहे। उनके बहुत सारे चित्र हमारे पास थे। मुझे लगा कि इन माँओं पर कुछ अलग ढंग से काम किया जाना चाहिए। केवल दस्तावेजीकरण नहीं। विद्वान लोग अशफाक़ उल्ला पर लिख रहे हैं, भगत सिंह पर लिख रहे हैं। ये एक फैशन मात्र है। इसमें कुछ भी नया नहीं है। कुछ ऐसा लिखो जैसा किसी ने दर्ज न किया हो। इस वजह से 'बिदाय दे माँ!' किताब लिखी। अभी कुछ दिनों पहले मुझसे एक लेख 'अकार' पत्रिका के संपादक प्रियंवद ने क्रांतिकारियों की पत्नियों पर लिखवाया है। दिल्ली में लॉर्ड हार्डिंग वाला जो कांस्पिरेसी केस हुआ था उसमें चार क्रांतिकारियों-मास्टर अमीर चंद, बालमुकुंद गुप्त, अवध बिहारी और बसंत कुमार विश्वास-को फाँसी लगी थी। इनमें से तीन क्रांतिकारियों को अंबाला में और एक क्रांतिकारी को बरेली में फाँसी दी गई थी। इन क्रांतिकारियों में बालमुकुंद जी की पत्नी की कथा बेहद अलग है। बालमुकुंद जी जेल में बंद थे और पत्नी उनसे मिलने गईं। वे पूछने लगीं कि सोते कहाँ हो? बालमुकुंद ने बताया, जमीन पर कंबल बिछाकर। घर लौटकर आयीं तो गर्मी के दिनों में कंबल बिछाकर सोने लगीं। फिर एक दिन पहुँची तो पूछा खाना कैसा मिलता है? बालमुकुंद जी बोले, खाना तो खाना ही मुश्किल होता है। इतने कंकड़ पड़े होते हैं चावल में। घर आईं तो चावल में कंकड़ मिलाकर खाने लगीं। बालमुकुंद जी को जिस दिन फाँसी होने वाली थी उस दिन उन्होंने सुबह पूजा वगैरा की और बाहर एक पेड़ के नीचे जाकर बैठ गईं। जिस समय बालमुकुंद को जेल में फाँसी लगी ठीक उसी समय उनकी यहाँ मृत्यु हो गई। अब कोई कहेगा कि ये तो इतिहास की बात नहीं, इतिहास से इसका क्या मतलब है।

अब ये कथाएँ इतिहास के बाहर की चीज हैं। हमारा प्रयास इतना है कि इतिहास के बाहर की चीजों को भी थोड़ा इतिहास में मिलाया जाए। ये कितना सार्थक है या कितना उसमें हम कामयाब हो रहे हैं, ये दूसरे लोग बतायेंगे। लेकिन हमारी कोशिश जारी है। दो आलेख तो पूरे हो गए हैं माँ और पत्नियों पर। फिर हमें लगा कि कुछेक बहनों का भी क्रांतिकारी आंदोलन में बड़ा योगदान रहा है जैसे सिन्हा बंधु की बहन सुशीला घोष का। सुशीला घोष के परिवार का पुलिस ने कानपुर में बहुत उत्पीड़न किया था। वे उस उत्पीड़न से विक्षिप्त हो गई थीं। विजय कुमार सिन्हा बाद में कम्युनिस्ट हो गये थे। उन्होंने सोवियत संघ की यात्रा भी की थी और 'द न्यू मैन इन सोवियत यूनियन' जैसी पुस्तक लिखी। यह पुस्तक अंग्रेजी में पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस से छपी है। ये पुस्तक उन्होंने अपनी बहन को समर्पित की है। एक बार हमने चिट्ठी में विजय दा से उनकी बहन सुशीला घोष के बारे में पूछा था। विजय दा ने लिखा था कि उसके बार में बात कर पाना मेरे लिए संभव नहीं है। इन परिवारों ने कितने-कितने कष्ट उठाए हैं, इसका हम उल्लेख तक नहीं करते। हम केवल सैद्धांतिक विश्लेषण में लग रहते हैं।

क्रांतिकारियों में सबसे ज्यादा चर्चा भगत सिंह की होती है। भगत सिंह को बौद्धिक क्रांतिकारी और न जाने क्या-क्या कहा गया है। हम यह भी मानते हैं कि मार्क्सवाद का जो भारतीय रूप है, वो भगत सिंह की विचारधारा में देखा जा सकता है। लेकिन भगत सिंह एक पारिवारिक सदस्य भी था जो मरना

नहीं चाहता था। भगत सिंह पर केंद्रित लोगों के भाषण सुनिए उनमें भगत सिंह के एक पत्र की चर्चा कोई नहीं करता है। उस पत्र में भगत सिंह लिखते हैं, "अजीज कुलतार तुम आये, तुम्हारी आँखों में आँसू देखकर बड़ा रंज हुआ। तुम्हें किस हालत में छोड़कर जा रहा हूँ। तुम्हारे लिए कुछ नहीं कर पाया हूँ। स्वास्थ्य का ध्यान रखना, हौंसले से काम लेना। पढ़ाई पर ध्यान देना, अमेरिका जा सकते तो अच्छा होता।"...आगे वे लिखते हैं, "यह दुनिया बड़ी बेमुरौवत है और लोग बड़े बेरहम।..." एक मनुष्य के नाते, भारतीय नागरिक होने के नाते जिस आदमी ने हिंदुस्तान को आजाद और खूबसूरत बनाने के लिए, शोषण विहीन बनाने के लिए इतनी बड़ी कुर्बानी दी। वो आदमी ये क्यूँ कह रहा है, "दुनिया बड़ी बेमुरौवत और लोग बड़े बेरहम।" क्यूँ कह रहा है, "अमेरिका जा सकते तो अच्छा होता।" वे आगे लिखते हैं, "मिलजुलकर रहना, कोई साथ देने वाला नहीं है।" वो ये सब जानता भी था। अंततः वो एक पारिवारिक व्यक्ति भी था। उसकी भी कुछ कमजोरियाँ थीं। हम किसी को मनुष्य के रूप में नहीं अपितु क्रांतिकारी भी नहीं बल्कि अति क्रांतिकारी बना देते हैं। भगत सिंह की इतनी बड़ी प्रतिमा बना दो कि कोई उसको देखे तो उसकी टोपी गिर जाए। भगत सिंह को हम अपने साथ चलने वाला क्यों नहीं बनाते?

कम्युनिस्ट आन्दोलन की विसंगतियों-खामियों को आप उजागर करते रहे हैं। इसके लिए आपको कई मित्रों की नाराजगी भी झेलनी पड़ी। कम्युनिस्ट आन्दोलन की किन कमियों को आप इसके संकुचन का कारण मानते हैं?

कम्युनिस्ट आन्दोलन या यों कहा जाए कि भारत की कम्युनिस्ट पार्टियां संसदीय राजनीति के दुर्गुणों का शिकार होती चली गईं। जनता को राजनीतिक रूप से शिक्षित करने तथा उनके मध्य प्रगतिशील चेतना के प्रचार-प्रसार का दायित्व उनसे कहीं दूर छिटकता चला गया। इतिहास की ओर देखकर कहूँ तो कम्युनिस्ट पार्टी ने आत्मनिर्णय के अधिकार के नाम पर देश के विभाजन का पक्ष स्वीकार करना, बयालिस के आन्दोलन का विरोध करना और उसके बाद प्रगतिशीलता और जनवाद के नाम पर अपने चौके-चूल्हे अलग कर लेना मेरे लिए तकलीफदेह है। आगे चलकर आई.पी.एफ. या माले के नाम पर भी उनका एक और विभाजन। यही नहीं, बल्कि ये पार्टियां आपस में एक दूसरे पर संशोधनवाद और उदारवाद का आरोप मढ़ती रहीं। पश्चिम बंगाल में जहाँ वे तीन दशक से अधिक सत्ता में रहे, वहाँ के नगरीय, कस्बाई और ग्रामीण समाज का निष्पक्ष अध्ययन या सर्वेक्षण कर लिया जाये तो किसी कोने पर प्रगतिशील चेतना के फैलाव के लक्षण या अवशेष दिखाई नहीं देते। बंगाल का समाज आज भी भयंकर पूजावादी और कमोबेश अंधविश्वासी भी है। आखिर धर्मनिरपेक्ष समाज की अवधारणा या उसके निर्माण की दिशा में क्या काम हुआ?

हाँ, यह अवश्य है कि कम्युनिस्ट दल अपनी ऐतिहासिक भूलों को समय-समय पर स्वीकार करते रहे। जैसे नेताजी के विरुद्ध अपनी स्थापनाओं और धारणाओं में बाद को उन्होंने परिवर्तन किया। 1987 में मैंने एक बेहद समीक्षात्मक और संतुलित आलेख 'वामपंथी आन्दोलन का सफरनामा' लिखा जिसे 'अमर उजाला' ने अपने रविवासरीय परिशिष्ट में कवर स्टोरी के रूप में पूरे पृष्ठ पर 'बहस के लिए' प्रकाशित किया। हुआ यह कि उन्होंने मेरे आलेख का शीर्षक तब्दील कर 'वामपंथ भी कुर्सी का एक नमूना है' कर दिया, जिस पर मैंने सम्पादक से कड़ी आपत्ति व्यक्त करते हुए कहा कि इसे देखकर कोई भी मुझे वामपंथ का विरोधी समझेगा जबकि यह एक निष्पक्ष मूल्यांकनपरक आलेख है। यद्यपि बाद के दो रविवासरीय परिशिष्ट में मेरे पक्ष और विश्लेषण के समर्थन में क्रमशः मन्मथनाथ गुप्त और हंसराज रहबर के दीर्घ आलेख प्रकाशित हुए। यह मेरे लिए सन्तोष की बात थी। इसके बाद एक व्याख्यान देने के लिए जब मैंने भगतसिंह के साथी, काला पानी गए शिव वर्मा को शाहजहाँपुर आमंत्रित किया तब वे

मेरे घर पर प्रातः उठकर मेरे प्रकाशित लेखों की फाइल उलटने-पलटने लगे। एकाएक वह पन्ना खुल गया जिस पर 'अमर उजाला' का मेरा वह लेख चस्पाँ था जिसका मैं जिक्र कर रहा हूँ। पूरा आलेख शिव दा ने पढ़ा तो उनके चेहरे की रंगत बदल गई। कहा उन्होंने मुझसे कुछ नहीं। उसी दिन से वह मुझे वामपंथ का विरोधी मान बैठे। बाद को उन्होंने दिल्ली के किसी समारोह में हंसराज रहबर से कहा कि सुधीर ने वामपंथ को पढ़ा या नहीं लेकिन वे उसकी आलोचना करेंगे। इसके बाद जब किसी कार्यक्रम के सिलसिले में फिर शिव दा शाहजहाँपुर आए तब मैंने रहबर साहब के उस पत्र का उनसे जिक्र किया जिसमें उन्होंने मेरे वामपंथ के विरोधी होने की टिप्पणी की थी। सुनकर शिव दा ने मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, "अरे, रहबर साहब से वह सब हँसी में कह दिया था।" लेकिन बात मेरे गले नहीं उतरी। आपको जानकारी होगी कि शिव दा मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े थे। वे बहुत पढ़ाकू और दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति थे। अच्छे लेखक और वक्ता भी। उन्होंने 'नया पथ' के सम्पादन का दायित्व भी योग्यता से संभाला था लेकिन जब वे भगतसिंह पर बोलने खड़े होते तो लगता कि वे अपनी पार्टी की थीसिस अधिक प्रस्तुत कर रहे हैं। मुझे यह अच्छा नहीं लगता था। मैं जिम्मेदारी के साथ यह भी कहना चाहूँगा कि उनकी बहुचर्चित और बहुप्रसारित पुस्तक 'संस्मृतियाँ' जिस पर उन्हें 'सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार' भी मिला था, उसमें संस्मरण कम रेखाचित्र अधिक हैं। उनके कई यादनामों के हिस्से मुझे कहानी की मानिन्द प्रतीत होते हैं। मैं इसमें एक किस्सा और जोड़ना चाहूँगा। वह यह कि पुराने कम्युनिस्ट और बाद को उत्तर भारत के बड़े नक्सलवादी नेता रहे शिवकुमार मिश्र ने राजनीति से विलग होने के बाद कानपुर में 'ऊटी-मद्रास केस के शहीदों की याद में' एक बड़ा कार्यक्रम आयोजित किया। उसमें मुझे यह जिम्मेदारी दी गई थी कि मैं मथुरा से प्रथम कम्युनिस्ट कांफ्रेस के आयोजक रहे सत्यभक्त जी को लेकर कानपुर पहुँचूँ। मैंने ऐसा ही किया। मद्रास मामले के क्रांतिकारी शंभूनाथ आजाद उसमें कचौरा घाट, आगरा से आए थे। कानपुर में कांग्रेस के नेता रहे नरेशचन्द्र चतुर्वेदी जैसे लोगों ने भी उसमें हिस्सेदारी की थी। शिवकुमार मिश्र के बड़े भाई रामकुमार मिश्र आयोजन की सारी जिम्मेदारी संभाल रहे थे। वहाँ चर्चा यह हो रही थी कि कानपुर में होते हुए शिव वर्मा ने कार्यक्रम में आने से मना कर दिया है। अब हम दो युवकों को यह दायित्व सौंपा गया कि शिव दा को मना कर वहाँ लाया जाये। हमारे दूसरे साथी आगरा के शिव प्रकाश पचौरी थे। हम दोनों रिक्शे से सूटरगंज तक गये। रास्ते में पचौरी मुझसे बोला कि तुमने 'अमर उजाला' में वामपंथ के विरोध में जो कुछ लिखा है वह गलत है। मैंने अपने तर्कों साथ यह भी बताया कि मेरी स्थापनाओं और पक्ष के समर्थन में एक दीर्घ आलेख मन्मथनाथ गुप्त का छप चुका है, उसे भी देखिए। वह बोला मन्मथनाथ ऐसा करते हैं तो उनके साथ क्रांतिकारी आन्दोलन का बड़ा अतीत जुड़ा है लेकिन मैं ऐसा करता हूँ तो साहित्य में कहीं का नहीं रहूँगा, न टिक सकूँगा। यह बात होने तक हम शिव दा के दुतल्ले आवास पर पहुँच चुके थे। हम लोगों ने शिव दा को बहुत मनाया कि कार्यक्रम मद्रास के शहीदों की याद में है जिसमें उन्हें चलना चाहिए। उनकी दलील थी कि नक्सलवादी हमारी आलोचना करते हैं, गाली देते हैं। हमारी यह बात भी शिव दा ने नहीं मानी कि शिवकुमार मिश्र न केवल नक्सलवादी आन्दोलन बल्कि सक्रिय राजनीति को पूरी तरह छोड़ चुके हैं। अंततः हम निराश होकर लौट आए। मैं इसे विस्मृत नहीं कर सकता कि ऊटी-मद्रास के शहीदों और क्रांतिकारियों की याद में देश भर का वह पहला और अंतिम आयोजन था जिसमें उस विप्लवी इतिहास पर शिवकुमार मिश्र की एक पुस्तक भी जारी की गई थी।

यहाँ मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि वाम पार्टियों की कार्यप्रणाली से जुड़ी मेरी आलोचना उस विचारधारा का विरोध नहीं है। इन दलों से जुड़े लोगों को मैं निरन्तर आरोपित करता हूँ कि उन्होंने अपनी भारतीय क्रांतिकारी परम्परा की निरन्तर उपेक्षा और उस इतिहास की अनदेखी की है जिसे भारतीय क्रांतिकारियों ने अपना रक्त देकर जमीन पर उतारा। हाँ, यह जरूर है कि ले-देकर अब वे

भगतसिंह को उनकी तस्वीरों के साथ याद करने लग गए हैं जबकि उनके दूसरे समानधर्मा और समकक्ष क्रांतिकारी साथी आज भी उनकी दृष्टि से पूरी तरह ओझल हैं। मुझे दुःख है कि भगतसिंह को अकेला करके, उनके दल और उनकी पूर्ववर्ती विप्लवी परम्परा से उपेक्षित कर वे भगतसिंह के साथ भी न्याय नहीं कर रहे हैं। भगतसिंह के वर्तमान तथाकथित पैरोकारों को क्या इस बात की जानकारी है कि शहीदे-आजम कहे जाने इस क्रांतिकारी के कितने संगी-साथियों को स्वतंत्र भारत में कब, कहाँ और कैसे मृत्यु मिली, उनके अंतिम दिन किन स्थितियों और परिस्थितियों में व्यतीत हुए, जबकि इस गुजर चुके समय को अभी अधिक दिन नहीं हुए हैं और हमने उनकी ओर एक बार भी मुँह घुमा कर नहीं देखा। क्या उनके प्रति हमारा दायित्व कोई अक्रांतिकारी कर्म था। लोगों को स्मरण करने की भी हमारी दृष्टि आधी-अधूरी है। हमने भगतसिंह की शताब्दी तो मनाई लेकिन चंद्रशेखर आजाद के जन्मशती वर्ष को 'हि.स.प्र.स' के सेनापति के नाते कहीं एक बार भी स्मरण नहीं कर पाए जबकि आजाद इस सम्पूर्ण संग्राम में निरन्तर केन्द्रीय भूमिका में रहे थे। वैसे भी हम तो व्यक्ति पूजा में भरोसा रखने वाले लोग हैं। हमारे वामपंथी मित्र काकोरी की शताब्दी को उसकी विचार-सम्पदा के साथ याद करने से चूक गए। 1922-23 में 'हि.प्र.स' का गठन क्रांतिकारी इतिहास का अनोखा मोड़ था जिस पर कोई सघन विमर्श सम्पन्न नहीं हुआ, और शायद तीन वर्ष बाद, सौवें साल में हम 'हि.स.प्र.स' को लेकर भी वैसी कोई चर्चा कर पाएँगे, इसमें मुझे सन्देह है। मेरे भीतर इस बात की पीड़ा है कि 1925 में कानपुर में पहली कम्युनिस्ट कांफ्रेंस के आयोजक रहे सत्यभक्त को प्रायः भुला दिया गया। यह हमारे लिए लज्जा की बात है कि अपने अंतिम दिनों में उन्हें 'युग निर्माण योजना' के एक छोटे-से कमरे को अपनी शरणस्थली बनाना पड़ा जहाँ रह कर वे प्रेस में प्रूफ रीडिंग करके अपनी गुजर-बसर करते थे। यह मैंने अपनी आँखों से देखा था। वह तो भला हो रूसी विद्वान मित्रोखिन का जिन्होंने अपने तर्कों और प्रमाणों से यह सिद्ध किया कि भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सत्यभक्त हैं। उसके बाद डा. रामविलास शर्मा ने अपने ग्रंथ में उन्हें जगह दी। मैं ज्ञानरंजन जी को धन्यवाद देना चाहूँगा कि बहुत पहले उन्होंने उन पर मेरे एक आलेख को 'पहल' में साहस के साथ प्रकाशित किया जिसका शीर्षक था 'सत्यभक्त, जिन्हें भारत के कम्युनिस्ट भूल गए'। ऐसा करने में उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ जबकि उसमें भी कम्युनिस्ट दलों और कार्यप्रणाली पर मेरी तीखी टिप्पणियाँ थीं।

वाम पार्टियों के सांस्कृतिक और साहित्यिक संगठनों 'प्रगतिशील लेखक संघ', 'जनवादी लेखक संघ' और 'जन संस्कृति मंच' से मेरी विशेष सहमति या यात्रा नहीं बन सकी। हाँ, एक बार 'जसम' के पटना सम्मेलन में मुझे आमंत्रित किया गया, जहाँ एक दर्शक के तौर पर ही मैंने भाग लिया था। किसी सत्र को छोड़कर मैं पटना संग्रहालय के भीतर इतिहासकार काशीप्रसाद जायसवाल के नाम पर बने हिस्से को देखने चला गया जिसमें राहुल सांकृत्यायन की लायी गयी दुर्लभ पुरानी पाण्डुलिपियाँ रखी हुई हैं। वहाँ से लौटने पर पता लगा कि 'जसम' की कार्यकारिणी घोषित की जा चुकी है जिसके राष्ट्रीय पार्षद में मेरा नाम भी सम्मिलित कर लिया गया है। मैंने इस पर आपत्ति करते हुए संगठन में किसी तरह का कार्य करने में असमर्थता व्यक्त की। मुझे याद है कि सभागार में मेरी कुर्सी के पास आकर साथी कौशल किशोर तथा एक अन्य व्यक्ति ने आकर मुझसे इसका कारण जानना चाहा। मैंने कहा कि मेरी पारिवारिक स्थितियाँ अत्यंत जटिल हैं जो मुझे सांगठनिक स्तर पर कहीं भी रहने की इजाजत नहीं देतीं और मैं लेखक के रूप में बंध कर भी नहीं रह सकता। यह मेरे स्वभाव में भी नहीं है। पर उन लोगों ने मेरा नाम बने रहने देने का आग्रह किया। उसके बाद मैं 'जसम' के दो कार्यक्रमों में मैं दूसरे शहरों में गया भी। शायद बनारस की एक मेरी यात्रा वीरेन डंगवाल और प्रियदर्शन मालवीय के साथ थी। आगे मैं उससे उस तरह भी जुड़ा नहीं रह सका। इस दूर चले जाने के पीछे यह था कि पत्नी के आकस्मिक निधन के बाद तो मेरे हाथ-पाँव ही बँध गए थे।

अनेक क्रांतिकारी आजादी के लिए समर्पित होते हुए भी धार्मिक आधार पर कट्टरपन की भावना से ग्रसित थे। इसके पीछे क्या कारण थे?

कहा जा सकता है कि बंगाली मानस इससे अधिक प्रभावित रहा है। 'बंगमाता' से 'भारतमाता' तक की इस कल्पना-यात्रा में इस पक्ष को चीन्हा जा सकता है। 1857 के विद्रोह में स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता की तस्वीर बनी थी वह आगे चलकर मुकम्मल न रह सकी। सत्तावनी क्रांति के बाद के मुक्ति-अभियान में मुसलमान प्रायः इस आन्दोलन से दूर होते चले गए। गांधी ने 1921 में असहयोग आन्दोलन के साथ खिलाफत मूवमेन्ट को जोड़कर भारतीय मुस्लिम समुदाय को अपने साथ संलग्न करना चाहा लेकिन यह उनकी बड़ी भूल थी। एक तो यह कि खिलाफत की लड़ाई का देश की आजादी से कोई रिश्ता नहीं था। यह उस समय तुर्की में खलीफा की कट्टर धार्मिक सत्ता की वापसी के लिए समय के पहिये को उल्टे घुमाने जैसी कार्यवाही थी जो वहाँ के प्रगतिशील क्रांतिकारी कमाल पाशा के विरोध में जाती है। भारतीय क्रांतिकारी संग्राम का अधिकांश संचालन हिन्दू धार्मिक प्रतीकों के आधार पर चलता रहा। 1923 में क्रांतिकारी दल का संविधान रचने वाले शचीन्द्रनाथ सान्याल अध्यात्मवादी विचारों के होते हुए भी निरे कठमुल्ले नहीं थे। उन्होंने एच.एस.आर.ए का विधान रचा तब उसमें कम्युनिज्म के जो सिद्धान्त उन्हें अच्छे और उपयुक्त लगे उन्हें भी उसमें समाहित कर लिया था। ऐसा वे स्वयं लिखते हैं। काकोरी के जमाने के क्रांतिकारी धार्मिक विचारों के थे, जैसे रामप्रसाद बिस्मिल गीता हाथ में लेकर, रोशनसिंह ओ३म् का उद्घोष करते हुए तथा अशफाक़ उल्ला खां कुरान शरीफ गले में लटकाते हुए फाँसी पर चढ़े। लेकिन यह कट्टरवाद नहीं था। अपने-अपने धार्मिक विश्वासों को मानते हुए वे आजादी के लिए पूर्णतया समर्पित थे। हाँ, आगे चलकर कर भगतसिंह ने 'मैं नास्तिक क्यों हूँ' लिख कर जो उपसंहार रचा, वह अद्भुत है। सर्वथा वैज्ञानिक चिन्तन और खालिस धर्मनिरपेक्षीय समाजवादी अवधारणा को सामने रखकर वे स्वतंत्रता के जिस आख्यान को गढ़ते हैं वही मार्ग और लक्ष्य भविष्य के क्रांतिकारियों का हो सकता है। हम इसे भारतीय क्रांतिकारियों के विचार की विकास-यात्रा के रूप में भी देख सकते हैं जो पुष्पित-पल्लवित होकर इस उपसंहार तक पहुँची।

क्रांतिकारियों के लिए कई जगह आतंकवादी शब्द का प्रयोग किया गया। गाहे-बगाहे कुछ विद्वान अभी भी करते हैं। आपका इस सम्बन्ध में क्या कहना है?

आतंकवाद शब्द समय के साथ रूढ़ हो गया। एक समय इसका प्रयोग इन दिनों की तरह वर्जित नहीं था। पुरानी अनेक पुस्तकों में कई स्थानों पर इसका प्रयोग हुआ है इसलिए उसे देखकर उत्तेजित नहीं होना चाहिए। बीते समय में पंजाब के खालिस्तानी आन्दोलन के समय से इस शब्द का अर्थ पूरी तरह वर्जित और प्रतिबंधित हो गया, जो उचित भी है। पर हमें चीजों का मूल्यांकन समय के अनुसार करना चाहिए कि वे कब अस्तित्व में आईं और तब उनके अर्थ क्या थे। शब्द भी यात्रा करते हैं और कई बार यह बहुत दिलचस्प भी होता है। क्रांतिकारी शब्द अधिक सचेत और उसके सम्पूर्ण लक्ष्य को व्यंजित करने वाला है जो हमें उस चेतना से जोड़ता है जिसे शहीदों ने अपना रक्त देकर हमारे लिए रचा था। इस प्रसंग में एक बात और जोड़ना चाहता हूँ वह यह कि खुशवंत सिंह की आत्मकथा का हिन्दी अनुवाद निर्मला जैन ने किया है जिसका पहला संस्करण 2008 में प्रकाशित हुआ था। उसमें क्रांतिकारियों को आतंकवादी लिखा गया है। शायद खुशवंत जी ने अंग्रेजी की अपनी लिखावट में टेरेरिस्ट लिखा हो, जबकि उन्हें रिवोल्यूशनरी लिखना चाहिए था, पर अनुवादक से हिन्दी संस्करण की प्रस्तुति में इस ओर सतर्क रहने की अपेक्षा की जाती है।

सुधीर जी, आपने बहुत से क्रांतिकारियों, स्वतंत्रता सेनानियों के स्मारक बनाए। जेलों में वे जिन बैरकों

में रहे उनके बाहर शिलापट्ट लगवाए। इन सबके लिए जब आप प्रयास कर रहे थे तो व्यवस्था और नौकरशाही का क्या रवैया आपको देखने को मिला?

इसे सुखद संयोग कहें या क्या कहें। हम जब कभी ऐसे किसी काम के लिए लोगों से मदद के लिए गये तो लोगों ने हमारी मदद की है। एक बार हमें फतेहगढ़ में सजा के तौर पर भेजा गया था। यानी हमारा शाहजहाँपुर से फतेहगढ़ ट्रांसफर कर दिया गया था। 1985 में दुर्गा भाभी के प्रयास से मणीन्द्र बनर्जी की जेल परिसर के अंदर प्रतिमा लगवाई गई। मणीन्द्र बनर्जी फतेहगढ़ जेल में अनशन करते हुए शहीद हुए थे। उनके प्राण मन्मथनाथ गुप्त की गोद में निकले थे। वहाँ हमने पहला आयोजन किया। कार्यक्रम में रमेश चंद्र गुप्त को बुलाया जो फतेहगढ़ जेल में रहे थे। साथ ही कई और क्रांतिकारियों को भी बुलाया था। हम चार साल तक वह कार्यक्रम करते रहे। 'फतेहगढ़ डायरी' में यह सब दर्ज है। फिर वहाँ से हटकर बरेली आ गए। एक दिन हमारे एक परिचित मित्र मिलने आए। बोले सेंट्रल जेल अधीक्षक डी.आर. वर्मा महोदय आपसे मिलना चाहते हैं। हमें चिंता हुई कि जेल अधीक्षक मुझसे क्यों मिलना चाहते हैं? उन्होंने कहा, वे अपनी गाड़ी भेज रहे थे। तब हमें और भी खतरा लगा। उन्होंने कहा, हम अपनी गाड़ी लेकर आयेंगे, कब चल सकेंगे। हमने कहा आज ही चलते हैं। हम उनके साथ जेल अधीक्षक से मिलने गये। वे हमको सबसे पहले जेल अधीक्षक के बंगले पर लेकर गये। जेल अधीक्षक ने चाय-पानी करवाया। फिर हमने कहा, आप हमसे क्यों मिलना चाहते थे? बोले, विद्यार्थी जी हम फतेहगढ़ सेंट्रल जेल से ट्रांसफर होकर आये हैं। वहाँ मणीन्द्र बनर्जी की याद में 20 जून को एक कार्यक्रम होता है। कार्यक्रम में जो भी वक्ता बोलता है, वो आपका नाम लेता है। हमने इस बात को श्रेय नहीं दिया और हल्के ढंग से कह दिया कि बोलने वालों के पास कुछ होता नहीं है। वे कुछ पढ़कर आते नहीं हैं। ऐसे में वे लोग मंच पर बैठे लोगों का आदरणीय संबोधन से नाम लेते हैं और कार्यक्रम सुधीर विद्यार्थी ने शुरू किया था इसका उल्लेख करते हैं। अंत में कहते हैं कि मणीन्द्र बनर्जी के आदर्शों पर चलना चाहिए। बस। ऐसा करके लोग समय पास करते हैं। मेरी इस बात को उन्होंने थोड़ा पॉजिटिव ले लिया कि मैं थोड़ा सा भी श्रेय नहीं लेना चाहता। फिर बोले यह जेल देखी है? मैंने कहा, "नहीं। आज आपने बुलाया तो आ गये।" ऑफिस में ले गये और जेल घुमाई।

पंडित नेहरू आजादी के आंदोलन के दौर में सेंट्रल जेल और जिला जेल में कुल पैंसठ दिन रहे थे। यहाँ नेहरू के नाम पर नेहरू वार्ड बना है। उस समय नेहरू वार्ड में कोई कैदी नहीं था। वार्ड में नेहरू जी की छोटी तस्वीर लगी थी। वार्ड में घेरा बनाकर घड़ा रखा हुआ था। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं था। फिर गए संजय वार्ड। संजय वार्ड में बहुत सारे कैदी भरे हुए थे। वे हम लोगों को देखकर उठ खड़े हुए। इस वार्ड में इमरजेन्सी के दौरान संजय गांधी कुछेक दिन यहाँ रहे थे। इसके बाद लौटकर जेल अधीक्षक के ऑफिस आये वहाँ कैदियों के हाथ की बनी हुई चाय पी। चाय के दौरान मेरे मुँह से आवेश में निकल गया कि ये किसके नाम पर बैरक बनाई है? उन्होंने बताया, कांग्रेस के राम सिंह खन्ना उस समय मंत्री थे तो उन्होंने संजय गांधी के नाम पर बैरक बनवा दी। संजय गांधी इस जेल में रहे थे। मैंने कहा इस जेल में बड़े-बड़े क्रांतिकारी रहे हैं। वर्मा साहब पूछने लगे, कौन-कौन रहा है? हमने कहा मन्मथनाथ गुप्त जैसे लेखक रहे हैं जिनके तीन साथियों ने मिलकर यहाँ बड़ा अनशन किया था। जिसे तोड़ने के लिए भगत सिंह ने लाहौर से टेलीग्राम भेजकर प्रयास किया था। इसके अतिरिक्त एम.एन. राय, शचीन्द्रनाथ बख्शी, भारतवीर मुकुंदी लाल, काकोरी केस से जुड़े राजकुमार सिन्हा, चन्द्र सिंह गढ़वाली, चंद्रशेखर आजाद के विश्वासघाती वीरभद्र तिवारी, यशपाल, रमेश चंद्र गुप्त, बंगाल के गणेश घोष, राजस्थान के प्रताप सिंह बारहठ। प्रताप सिंह बारहठ पर शचीन्द्रनाथ सान्याल जी ने 'बंदी जीवन' में छोटा ही सही एक अध्याय 'प्रताप की कहानी' शीर्षक से लिखा है। हमने देखा कि हम जो कह रहे हैं इसका उन पर असर पड़ रहा है। एकाएक उन्होंने कहा कि आप शायद यही चाहते हैं कि इनके नाम पर भी यहाँ कुछ

हो। हमने कहा, आपने हमारे मन की बात जान ली। वर्मा जी बोले कोई दस क्रांतिकारियों के नाम बताइए। हमने एम.एन. राय से लेकर बाकी क्रांतिकारियों के नाम बता दिए। वर्मा जी बोले, आप सबसे बड़ा क्रांतिकारी किसे मानते हैं। मैंने कहा, चन्द्रसिंह गढ़वाली। बोले आप बता सकते हैं कि गढ़वाली यहाँ कब आये थे। हमने कहा हम यह भी बता देंगे कि जिस समय जेल दरवाजे से उनकी एंट्री हो रही थी वो समय क्या था? कौन जेल अधीक्षक था। हमने चन्द्रसिंह गढ़वाली के जेल आने की तारीख बताई तो उन्होंने घंटी बजाकर क्लर्कनुमा आदमी को उस सन का एंट्री रजिस्टर लाने को कहा। मेरे दिमाग में उलझन आयी कि बता तो दिया लेकिन अगर एंट्री न मिली तब। बहुत देर बाद वह क्लर्क उस सन् का एक पुराना रजिस्टर लेकर आया। देखा, तो उसमें एंट्री थी। हमने कहा कि क्या इसकी एक फोटो ले सकते हैं? जहाँ पर उनके साथी नारायण गोसांई की एंट्री है। नारायण गोसांई भी उनके साथ आए थे और उन्होंने अनुरोध किया था कि हमें एक ही बैरक में रखा जाए। जेल अधीक्षक महोदय ने कागज पर मेरे कहे अनुसार क्रांतिकारियों के नाम लिखे। सबसे पहला नाम गढ़वाली जी का था। वह बोले विद्यार्थी जी बरसात का डेढ़ महीना रह गया है। डेढ़ महीने में इन द्वारों और बैरकों के नाम इन क्रांतिकारियों के नाम पर करा दिए जायेंगे। हमने उनको धन्यवाद दिया और वापस आ गए।

कुछ समय बाद वहाँ गये तो देखा एक आजीवन कैदी जो पेंटर भी था, वह द्वारों के नाम लिख रहा था जबकि कुछ नाम लिखे जा चुके थे। वर्मा जी का आगरा सेंट्रल जेल ट्रॉंसफर हो गया था। इसके बाद मैंने वर्मा जी को फोन किया और कहा आपने इतना बड़ा काम कर दिया जो आज तक नहीं हुआ। हमें पता होता तो आपको अच्छी तरह से विदाई देते। बोले, अरे वह छोड़ो, ये बताओ कि आगरा सेंट्रल जेल में कौन-कौन क्रांतिकारी रहे हैं? मैंने दस नाम बता दिए। वहाँ भी इन क्रांतिकारियों के नाम पर द्वार और बैरकें बन गईं। मैं काम बहुत निष्पक्ष ढंग से करता हूँ। मेरे भीतर जाति आदि को लेकर कोई भाव नहीं है और न ही कभी लेखन में ऐसा स्वीकार करता हूँ। आगरा में सबसे पहले द्वार का नाम मेरे कहे अनुसार वर्मा जी ने योगेश चंद्र चटर्जी द्वार रखा। नौ क्रांतिकारियों के नाम मैंने बता दिये पर दसवाँ नाम याद नहीं आ रहा था। उस समय राधामोहन गोकुल के पौत्र प्रकाश चन्द्र अग्रवाल को ये सब पता चला तो उन्होंने कहा कि भाई साहब एक द्वार राधामोहन गोकुल के नाम से बनवा दीजिए। हमारे सामने यह स्पष्ट नहीं था कि राधामोहन गोकुल जी जिला जेल में रहे हैं या केंद्रीय कारागार में। हमने वर्मा जी से अपना यह असमंजस बताया। वर्मा जी बोले, अरे! इतना बड़ा आदमी किसी भी जेल में रहा हो एक बैरक राधामोहन गोकुल के नाम पर बनवा देते हैं। अब एक बड़ा दिलचस्प किस्सा सुनाता हूँ। जब वर्मा साहब ट्रांसफर होकर आगरा चले गये तब की बात है। मैं ऐसे ही जेल में पुराने काम को देखने गया था। वहाँ पहुँचे तो देखा कि सबसे ऊँचा द्वार मन्मथनाथ गुप्त, दूसरा एम.एन. राय और तीसरा गढ़वाली और चौथा मुकुंदी लाल के नाम पर कर दिया गया है। फिर वहाँ के तत्कालीन जेल अधीक्षक आर.के. सक्सेना से मिलने पहुँचे। बोले, सुधीर विद्यार्थी आप ही हैं? मैंने हाँ में उत्तर दिया। वे बोले, "ये नाम तो आपने लिखवाए हैं तो एक काम और करा दीजिए। इन क्रांतिकारियों का परिचय साइड में लिखवा दीजिए। यहाँ कैंप लगते रहते हैं। अधिकारी आते रहते हैं। जेल में पेंट भी बनता है और पेंटर भी है। चाहे आप यहाँ से ले लीजिए या बाहर से।" हमने कहा ठीक है, करते हैं। उन्होंने कहा जल्दी करा दीजिए क्योंकि मुकुंदी लाल वाली बैरक में इस समय एक आजीवन कारावास का कैदी रह रहा है। बहुत शातिर है। उसने सब जगह अफवाह उड़ा दी है कि हमारे नाम पर जेल में बैरक बना दी गयी है। ये जलवा है हमारा। हम सोचते रहे कि कैसे लिखवाया जाए? जेल की पुरानी दीवारों पर चूने की कई-कई परतें हैं। इन दीवारों पर पेंट से लिखवायेंगे तो छूट जाएगा। क्या फाइबर प्लेट्स बनवाकर कसवा दें? उस समय कविता भारत मेरे संपर्क में आ गयी थीं। उनसे इस विषय पर चर्चा हुई तो उन्होंने कहा पत्थर क्यों नहीं लगवा देते? हमने कहा, यह तो खर्चीला होगा। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो धर्म-कर्म जैसा मानते हैं। एक

दिन उन्होंने दोपहर में अपने घर बुला लिया और ग्यारह हजार रुपये पत्थर लगवाने के लिए देने लगीं। हमने मना कर दिया कि पैसे तो हम लेते नहीं है। अगर आप चाहती हैं कि ऐसा हो जाए तो हमारे साथ चलिए और पत्थर का ऑर्डर दे दीजिए। साढ़े आठ हजार में पत्थर बन गए और बचे पैसों से उन क्रांतिकारियों के फोटो बनवाये। बरेली और आगरा जेल में जाकर फोटो दे आये। इलाहाबाद के नैनी जेल में भी पंद्रह फोटो दे आये थे। लेकिन नैनी बार-बार जा नहीं पाते। बता भी आए कौन सा फोटो कहाँ लगाना है। चूँकि अधिकारियों के ट्रॉंसफर होते रहते हैं इसलिए सब काम अधूरा है। एक आदमी ये सब कर रहा है। अगर आगरा में कुछ साथी होते तो आसानी हो जाती। जो नया प्रगतिशील या मार्क्सवादी बौद्धिक वर्ग है उसको इन सब चीजों में कोई आस्था नहीं है। वह मार्क्स, लेनिन का नाम ले लेगा साथ में थोड़ा-बहुत भगत सिंह का। चे ग्वेरा की तस्वीर लगा लेगा लेकिन अन्य क्रांतिकारियों से उसका जुड़ाव नहीं है।

'लाहौर षड्यंत्र केस' की भारतीय क्रांतिकारी आन्दोलन में क्या भूमिका रही? जनता के बीच इस केस को लेकर क्या प्रतिक्रिया थी?

पहला 'लाहौर षड्यंत्र केस' 1915 में हुआ था जो 26 अप्रैल से 13 सितम्बर, 1915 तक विफल गदर आन्दोलन के बाद लाहौर और संयुक्त राज्य अमरीका में आयोजित परीक्षणों की एक शृंखला थी। करतार सिंह सराभा जैसे क्रांतिकारी इसमें फाँसी पर चढ़े और पं. परमानन्द को अंडमान भेजा गया। लेकिन मुझे लगता है कि आपका आशय दूसरे 'लाहौर षड्यंत्र केस' से है जिसमें भगतसिंह और उनके साथियों पर साण्डर्स-वध के बाद लाहौर साजिश का मुकदमा चला। इस केस की देश और दुनिया में खूब चर्चा हुई और इसके माध्यम से जनता में क्रांतिकारियों के स्वतंत्रता का लक्ष्य और उसके साथ समाजवाद और धर्मनिपेक्षता का भी प्रचार हुआ। कहना न होगा कि उस जमाने में भगतसिंह इस मुहिम के प्रतीक बन गए। वे तब देश के सर्वाधिक लोकप्रिय व्यक्ति हो चुके थे। दिल्ली में भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त को 8 अप्रैल, 1929 को वहाँ की केन्द्रीय असेम्बली में बम और पर्चे फेंकने के आरोप में आजीवन कारावास की सजा सुनाई गई लेकिन इसके बाद लाहौर की अदालत में साण्डर्स पर हमला करने के जुर्म में उन्हें अपने साथी राजगुरु और सुखदेव के साथ फाँसी तथा अन्य को लम्बी सजाएँ दी गईं। साण्डर्स से लेकर असेम्बली के बम विस्फोट की घटनाएँ मुक्ति आन्दोलन में गुणात्मक परिवर्तन की तरह थीं। यह हमारे विप्लवी इतिहास का एक विशिष्ट अध्याय है। इससे भगतसिंह के 'इन्कलाब जिंदाबाद' और 'साम्राज्यवाद मुर्दाबाद' का नारा जन-जन तक पहुँच गया। इसके साथ ही अदालत में उनके दिए गए बयान तथा तर्कपूर्ण बहसें उन्हें एक प्रखर और सम्पूर्ण क्रांतिकारी साबित करने के साथ ही जनता को यह बताने में भी कामयाब हुईं कि उनकी आजादी क्यों और किन लक्ष्यों के लिए समर्पित है तथा उनके समाजवाद का खाका क्या है। इन सब चीजों ने भगतसिंह को एक तरह से देश के क्रांतिकारी संग्राम का मुख्य प्रवक्ता और सबका चहेता बना दिया। इसका प्रभाव कांग्रेस के तत्कालीन आन्दोलन और यहाँ तक कि लाहौर अधिवेशन में इस कदर पड़ा कि उन्हें विवश होकर अपने प्रस्ताव में 'मुकम्मल आजादी' की घोषणा करनी पड़ी और समाजवाद के लक्ष्य की ओर वे भी आकर्षित हुए। यह क्रांतिकारी दल 'हि.स.प्र.स' की बड़ी विजय थी। उस समय जनता ने भगतसिंह-बटुकेश्वर दत्त और उनके साथियों को सिर-आँखों पर बिठा लिया। यह देखना-जानना दिलचस्प है कि उन दिनों पंजाब में घर-घर 'भगतसिंह-दत्त' युग्म नाम हो चुके थे। भगतसिंह पर इस देश की गैरपढ़ी-लिखी या कम शिक्षित जनता ने असंख्य लोक गीत रचे और गाये जिससे स्वतंत्रता की चेतना का जन-जन तक प्रचार-प्रसार हुआ। भगतसिंह लोक के नायक बन चुके थे। उन पर लिखे एक लोक गीत की पंक्तियों की मार्मिकता और फँसी से उन्हें खोने की पीड़ा देखिए जिसमें आँसुओं से भरा रुदन है, "मत अइयो तेईस तारीख, महीना बाईस का करि लेईंगे।" आपको शायद याद हो कि एक समय नौटंकी की मंडलियों में भगतसिंह पर खेले गए खेल में

एक गाना होता था, 'फाँसी का फँदा झूल गया मस्ताना भगतसिंह' जो बहुत लोकप्रिय हुआ। इस तरह नौटंकी जैसी लोक कला के मंच पर स्वाधीनता के स्वर गूँजे तथा भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद की तस्वीरें गाँव-देहात के मेलों और ट्रकों के दरवाजों तक शोभायमान हो गईं। इसे लोक के मध्य इन क्रांतिकारी नायकों की स्वीकृति के तौर पर भी देखा जा सकता है। मैं कह सकता हूँ कि बौद्धिकों के बीच भगतसिंह बहुत बाद को आए लेकिन उसके बाद भगतसिंह के दस्तावेजों को अपने-अपने नाम से छापने-बेचने की व्यवसायिक होड़ शुरू हो गई, जबकि भगतसिंह की असली जगह तो लोक के मध्य है। वहीं से भविष्य का भगतसिंह पैदा होगा।

कई क्रांतिकारियों के वंशज उनकी विरासत को सहेजने के बजाय उसे नष्ट-भ्रष्ट कर रहे है। ऐसे में बौद्धिक सम्पदा पर वंशानुगत अधिकार को उचित मानते हैं आप? क्योंकि एक लेखक, कलाकार या स्वतंत्रता सेनानी तो किसी एक परिवार का न होकर पूरे समाज का होता है।

विगत कुछेक वर्षों से इस संकट का हम निरन्तर सामना कर रहे हैं और अब तो यह हर रोज विस्तारित होकर हमारी क्रांतिकारी चेतना को निगलने-डसने लग गया है जिसके चलते भारतीय विप्लवी संघर्ष का पूरा इतिहास क्षतिग्रस्त और प्रदूषित हो रहा है। क्रांतिकारियों के वंशजों ने इसमें बेहद नकारात्मक भूमिका का निर्वहन किया है। उनके संगठन केवल सुविधाएँ लेने और सम्मान अर्जित करने का जरिया बन गए हैं। उनमें कई छद्म और झूठे हैं। उनमें किसी वैचारिक प्रखरता और उद्देश्य की पूर्णतया अनुपस्थिति दिखाई देना हमारे लिए अत्यंत पीड़ादायक है। दुखद है कि अत्यंत कमजोर, अक्षम और दयनीय स्थितियों में उन्हें देखने के लिए हम हरदम अभिशप्त हैं। वे अपनी बैठकों या सम्मेलनों के जरिये किसी प्रतिरोध की इबारत नहीं रचते जबकि हर तरफ स्थितियाँ इसकी माँग करती हैं। वे अपने कारनामों और कृत्यों से अपने पूर्वज क्रांतिकारियों की हानि ही कर रहे हैं जबकि उस परम्परा को आगे बढ़ाने का भी दायित्व उनके कंधों पर है। तकलीफदेह यह भी है कि शहीदों और क्रांतिकारियों को उनके धर्म और जाति के आधार पर विभाजित करने की घृणित कोशिश हर रोज परवान चढ़ रही हैं जबकि उन्होंने किसी समुदाय, जाति या खास वर्ग के लिए स्वतंत्रता का संघर्ष नहीं किया था। देखता हूँ कि भगतसिंह की जन्मशती आते-आते इस शहीद के सिर पर सिख धर्म की पगड़ी रख दी गई। ऐसा करना भगतसिंह के धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी चिन्तन के विरुद्ध एक प्रतिगामी साजिश है।

काकोरी शहीद रोशन सिंह को ठाकुर, रामप्रसाद बिस्मिल को ब्राह्मण और क्रांतिकारी दल के सेनापति चन्द्रशेखर आजाद पर तो 'जियो तिवारी जनेऊधारी' जैसी कविताएँ लिखकर उन्हें कद को कमतर करने की घिनौनी कोशिशें लगतार जारी हैं। लाहौर षड्यंत्र केस के काला पानी गए क्रांतिकारी डॉ. गयाप्रसाद को जाति के खाने में ढकेल कर उनका बेटा अपने क्रांतिकारी पिता की प्रतिमा लखनऊ के 'कुर्मी भवन' में स्थापित होने पर लहालोट है। उसने डाक्टर साहब के नाम के साथ जातिसूचक 'कटियार' शब्द को नत्थी कर उनकी गरिमा को घटाने का अक्षम्य अपराध किया है। यही नहीं, पिछले दिनों बहुत निर्लज्जता से कुर्मी क्षत्रिय सभा के भीतर 'पटेल स्वाधीनता सेनानी आश्रित प्रकोष्ठ' का भी गठन कर दिया गया है। जाति और धर्म का यह विभाजन आखिर हमें कहाँ ले जाएगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। दूसरी बात यह कि हम एक चेतनाविहीन पूजावादी समाज में तब्दील होते जा रहे हैं। शहीदों और क्रांतिकारियों के सपनों के समाज-निर्माण में उनके परिवारजन किसी भूमिका का निर्वहन कर सकते थे जिसकी ओर उनका ध्यान नहीं है। वे तो हर रोज स्वयं को सम्मानित करने का उपक्रम करते ही नहीं अघाते। यह भी एक तरह का परिवारवाद है जिसके चलते शहीदों और क्रांतिकारियों के वंशजों को हर शहर कस्बे में सम्मानित करने का उद्योग स्थापित हो गया है। दरअसल हम एक पूजक समाज हैं और उनके यह वंशज तो पूरी तरह सत्तामुखी और सरकारपरस्त हो चुके हैं। ऐसे में उनसे किसी

परिवर्तनकारी भूमिका की अपेक्षा करना दुराशा ही है। मैं जानता हूँ और यह बहुत दुखद कि सरकारी आयोजनों में हुक्मरानों की ओर से उन्हें 'लाभार्थी' के रूप पुकारा और प्रस्तुत किया जाना कितना दुर्भाग्यपूर्ण है, जिस पर वे प्रतिवाद भी नहीं करते।

अकादमिक क्षेत्र में क्रांतिकारी आन्दोलन पर शोध और विमर्श की स्थिति दयनीय है। इस उदासीनता के क्या कारण हैं?

अकादमिक दुनिया में क्रांतिकारी आन्दोलन पर शोध कार्य गम्भीरता से नहीं हो रहा है। वह नितान्त निचले स्तर का और नवीन तथ्यों व सूचनाओं से विरत है। इस मामले में दोष सिर्फ छात्रों का ही नहीं है बल्कि प्राध्यापक नए और अछूते विषयों से सर्वथा विरत है। उनकी दृष्टि दूर तक और गहराई में नहीं जाती। वहाँ क्रांतिकारी आन्दोलन के वैचारिक विकास और लक्ष्य भी सिरे से अनुपस्थित हैं। इसे हम प्राध्यापकीय संसार की सीमाएँ कह कर भी रेखांकित कर सकते हैं। दरअसल, कैरियरवादी अकादमिक क्षेत्र इस समस्या से ग्रस्त रहता ही है। देखिए कि अभी तक कोई शोध 'बनारस षड्यंत्र केस' (1915-16) तथा 'मैनपुरी षड्यंत्र केस' (1918-19) पर सम्पन्न नहीं कराया जा सका जबकि यह दोनों सुपरिचित काकोरी के घटनाक्रम से पहले के महत्त्वपूर्ण क्रांतिकारी पड़ाव हैं। 'गदर पार्टी' के आन्दोलन पर भी गहराई से कोई शोध नहीं हुआ। काकोरी के मामले को ही लें तो इस मुकदमे में चार क्रांतिकारियों की फाँसी के बाद बरेली केन्द्रीय जेल में बंदी रहते हुए इनके साथियों ने राजनीतिक कैदियों के अधिकार प्राप्त करने के लिए बावन दिन लम्बी कामयाब भूख हड़ताल की थी जिसमें उनकी माँगें मानी गईं। क्रांतिकारियों का यह संघर्ष एक पृथक शोध की माँग करता है, इसलिए भी कि प्रायः अनशन को गांधीवादियों का हथियार माना जाता है जबकि जेलों के भीतर जाकर क्रांतिकारियों ने इस नए ढंग की लड़ाई को अंडमान से लेकर लाहौर, फतेहगढ़ जैसी अनेक जेलों में अपना बलिदान देकर सम्पन्न किया। यह एक अलग ही अध्याय है जो अभी तक पूरी तरह अनदेखा और अछूता बना हुआ है। एक और बात जो इससे जुड़ी बयान करना चाहता हूँ वह यह कि स्तरहीन शोध प्रबन्धों की बाढ़-सी आ गई है जिनका भविष्य में किसी संदर्भ के लिए प्रयोग करना नितान्त कठिन और दुर्भाग्यपूर्ण है जबकि इन्हें त्रुटिहीन बनाने की दिशा में कार्य करने की किसी बड़ी मुहिम की जरूरत है।

सुधीर जी, क्या आज के लेखन में स्थानीयता की झलक अपने सभी आयामों के साथ दिखाई पड़ती है?

हमने इस बात को बार-बार नोटिस किया है कि स्थानीय इतिहास की बहुत उपेक्षा हुई है। बरेली में महात्मा ज्योतिबा फुले के नाम पर विश्वविद्यालय बनाया गया। जबकि वह विश्वविद्यालय दामोदर स्वरूप सेठ के नाम पर हो सकता था और हो सकता है। कोई कहेगा कि आप क्रांतिकारियों का पक्ष ले रहे हैं। हम कह रहे हैं कि पंडित राधेश्याम कथावाचक के नाम पर रख दीजिए। वे तो क्रांतिकारी नहीं थे। वे तो परंपरावादी थे और 'राधेश्याम रामायण' के रचयिता थे। हमारा मानना है कि संस्थाओं के नामकरण में स्थानीयता इतिहास का ध्यान रखा जाए। एक बार हम हमीरपुर के राठ इलाके में राधामोहन गोकुल की समाधि खोजने गये। हम दो पुलों से गुजरे, एक इंदिरा गांधी के नाम पर और दूसरा राजीव गांधी के नाम पर। जबकि उस इलाके में दो बड़ी शख्सियत उभरीं--पंडित परमानंद झांसी वाले और राधामोहन गोकुल। बेतवा का पुल पंडित परमानंद के नाम पर और दूसरा पुल राधामोहन गोकुल के नाम पर हो सकता था। इंदिरा गांधी, राजीव गांधी के नाम पर बहुत सारी चीजें हो सकती हैं। लेकिन ये जब ध्यान नहीं रखा जाता तो इससे स्थानीय इतिहास/लोक इतिहास का बहुत नुकसान होता है।

आपने चटगाँव के मुक्ति संघर्ष पर लिखते हुए कहा था कि क्षेत्रवाद इतिहास पर हावी है। चटगाँव की

अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना से उत्तर भारतीय ठीक से परिचित नहीं। इसी तरह एक क्षेत्र की अनेक ऐतिहासिक घटनाओं को दूसरे क्षेत्र के लोग नहीं जानते। आपने इसे 'लंगड़ी इतिहास चेतना' कहा है। इस लंगड़ी चेतना से भारतीय इतिहास लेखन को कितना नुकसान हुआ है?

मैं आरोपित करता हूँ कि उत्तर भारतीय अपने देश की भौगोलिक सीमाओं को नहीं छू पाते। उनका दृष्टिकोण अत्यंत संकुचित और इकहरा है। देश के मुक्ति संघर्ष के इतिहास में दक्षिण भारत अथवा अहिन्दीभाषी प्रदेशों की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को प्रायः अनदेखा ही नहीं किया जाता बल्कि उन्हें 'इतिहास बदर' भी कर दिया जाता है। हम एक बार भी अपने इलाके में बंगाल की धरती के महान विप्लवी योद्धा शहीद मास्टर दा सूर्यसेन या प्रीतिलता को याद नहीं करते। हमने यह जानने का प्रयत्न भी नहीं किया कि केरल क्रांतिकारी वेलुथम्पी या चम्पकरामन पिल्लै, आंध्र के अल्लुरि सीताराम राजू अथवा यह भी कि दक्षिण में जाकर किन उत्तर भारतीय क्रांतिकारियों--रोशनलाल मेहरा, गोविन्दराम बहल, हजारा सिंह, सीतानाथ डे, शंभूनाथ आजाद ने वहाँ इन्कलाब का परचम बुलन्द किया और इनमें से कई शहीद हो गए। हमें अपनी चेतना में सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप को जीना चाहिए। क्षेत्रवाद का एक छोटा-सा उदाहरण बताऊँ कि काकोरी के ऐतिहासिक घटनाक्रम में उत्तर भारत के चार क्रांतिकारियों को 1927 में फाँसी की सजा दी गई थी जिनमें रामप्रसाद बिस्मिल, रोशनसिंह और अशफाक़ उल्ला खाँ शाहजहाँपुर के थे जबकि चौथे क्रांतिकारी राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी बनारस के। 1972 में शाहजहाँपुर नगर में अपने जनपद के तीन शहीदों की प्रतिमाएँ स्थापित की गईं जबकि चौथे शहीद लाहिड़ी को विस्मृत और अनुपस्थित कर दिया गया। इस क्षेत्रीय भेदभाव के प्रति भगतसिंह के साथी क्रांतिकारी जयदेव कपूर ने शहरवासियों का बार-बार ध्यान आकृष्ट कराया, लेकिन उनकी बात को अनसुना कर दिया गया।

आपने कहा कि राष्ट्रीय/अंतरराष्ट्रीय होने से पहले स्थानीय/क्षेत्रीय होना जरूरी है। जनपदीय इतिहास की जो किताबें आपने लिखी हैं क्या उसके पीछे यही उद्देश्य रहा है? या किसी ने इसके लिए प्रेरित किया?

हमारे पास इस तरह के लेखन का कोई बना-बनाया खाका नहीं था। यह बात उस दौर की है जब हमारे बेटे और पत्नी की मृत्यु हो चुकी थी। हम नौकरी में एक जगह से दूसरी जगह विस्थापन झेल रहे थे। ऐसे में हमने अपने जन्म-स्थान पर संस्मरण लिखने का सोचा। 'मेरा गाँव मेरे लोग' संस्मरण लिखा भी। फिर लगा, संस्मरण का क्या होगा? कहाँ छपेगा? फिर इसे विस्तारित किया। तब विचार आया कि क्यों न एक शहर/कस्बे पर केंद्रित किताब लिखी जाए। इसी का नतीजा है 'पहचान बीसलपुर' किताब। मैंने अपने आपसे आजादी की लड़ाई में शामिल रहे बीसलपुर के लोगों के नाम छाँटे। बीसलपुर और पीलीभीत जनपद में उर्दू शायरी की एक बड़ी परंपरा रही है। पीलीभीत से सटा हुआ कस्बा है जहाँनाबाद। वहाँ के थे सुरूर जहाँनाबादी। सुरूर जहाँनाबादी के खानदान के लोग बीसलपुर के आस-पास के थे। उनकी शायरी गजब की थी। उनमें हरिनंदन प्रसाद 'आमिल' को तो हम उस्ताद शायर भी कह सकते हैं। लेकिन वे स्वान्तः सुखाय शायरी करते रहे। वहीं पीलीभीत में लावनी के एक बहुत बड़े गायक थे। गायक ही नहीं रचयिता भी। इस समय हम उनका असली नाम भूल रहे हैं। लेकिन स्वामी नारायणानंद 'अख्तर' नाम से लावनी लिखते थे, ये याद है। बीसलपुर से बरेली की ओर जाने पर एक मोड़ पड़ता है भड़रिया। भड़रिया से खुदागंज की तरफ थोड़ा आगे बढ़ेंगे तो दाहिनी तरफ गाँव है अखोला। अखोला में ही उनका जन्म हुआ और मृत्यु हुई पीलीभीत में। जबकि उनकी कर्मभूमि देवबंद और कानपुर ही रही। कानपुर पर उन्होंने बहुत अच्छा शेर कहा है--

क्यूँ न अख्तर शेर कहने के लिए मजबूर हो
कद्रदानी इस कदर जब कानपुर वालों में हो।

उनकी लावनियों में उर्दू खूब है। वह समय ही ऐसा था जब भाषा को धर्म से जोड़कर नहीं देखा जाता था। उनका 'लावणलता' नाम से एक लावनियों का संग्रह था जो बाद में लोगों ने प्रकाशित करा दिया। जबकि उनकी लावनियों के संग्रह की कई कॉपियाँ लोगों ने गायब भी कर दीं। लावनी का इतना बड़ा गायक जिस पर कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', बनारसी दास चतुर्वेदी ने संस्मरण लिखा उसे हम जानते तक नहीं थे। वहीं बीसलपुर क्षेत्र के एक डॉ. फतेह सिंह थे जिन्होंने सिंधु लिपि वगैरह का कुछ पढ़ा था। इसके अतिरिक्त नौटंकी परंपरा में तीसरा बड़ा नाम बीसलपुर की राधा रानी का आता है जो अभी भी जीवित हैं। उन्होंने 'द राधा रानी ग्रेट थियेटर कंपनी' बनाई। हिंदी साहित्यकार फणीश्वरनाथ रेणु ने इनकी नौटंकी देखी थी। नेपाल, बिहार में रुपौली तक राधारानी की नौटंकी जाती थी। बिहार के कहानीकार विजयकान्त ने उन पर कहानी लिखी है। जो आधा संस्मरण और आधी कहानी है। वह ऐसी महिला थी जो चौरिटी में बहुत पैसा देती थीं। किसी आपदा के समय नौटंकी की आमदनी के पैसे वे प्रधानमंत्री कोश में दे देती थी। तब प्रधानमंत्री कोश में पैसा देना बहुत पवित्र माना जाता था। राष्ट्रीय भावना मानी जाती थी। राधारानी ने विधानसभा के दो चुनाव लड़े थे। एक चुनाव एक सौ पैंसठ वोटों से हार गई थीं। आज वह अशक्त होंगी। साथ ही बीसलपुर की दूसरी पहचान यहाँ की रामलीला है। जो पूरे इलाके का एक सांस्कृतिक मेला था। इस इलाके में बरेली, शाहजहाँपुर, पीलीभीत आते थे। आज उसका रूप बदल गया है। बाजार हावी हो गया है। पुरानी रवायती चीजें खत्म हो गई हैं। पहले उस मेले में गायक आते थे, खंजड़ी बजाने वाले आते थे। इस तरह पूरे इलाके की तस्वीर उभरती है। मुझे लगा कि इन शख्सियतों को, शायरी, लावनी की परंपरा को, रामलीला और नौटंकी को जोड़कर ही बीसलपुर की छवि उभारी जा सकती है। अब हुआ ये कि मेरी पहली किताब एकदम दूसरी विधा की थी और ये किताब दूसरी विधा की। इसके बावजूद लोगों ने यहाँ तक कहा कि राहुल सांकृत्यायन की 'कनैला की कथा' श्रेणी की ये दूसरी किताब है। 'पहल' जैसी पत्रिका में 'बीसलपुर' जैसी छोटी जगह पर लिखी गई किताब की समीक्षा छपी। यह लेखक के लिए आश्वस्त करने वाली बात थी। विद्यासागर नौटियाल जी की यह पसंदीदा कृति बन गई। एक बार उन्होंने किसी से कहा कि मेरा जब किसी किताब में मन नहीं लगता तो मैं 'पहचान बीसलपुर' उठाकर पढ़ लेता हूँ। कवि राजेश जोशी का मुझे पत्र आया कि "पहचान बीसलपुर भेज दो, मुझे भोपाल पर किताब लिखनी है। देखना है कि किसी एक कस्बे पर किताब कैसे लिखी जाती है।"

विद्यार्थी जी, क्रांतिकारी आंदोलन और जनपदीय इतिहास पर आधारित पुस्तकों में आप संदर्भ-स्रोतों का उल्लेख नहीं करते। ऐसा करने के पीछे आपकी क्या धारणा है? क्या इससे लेखन की प्रामाणिकता कम होती है?

अकादमिक ढंग का जो इतिहास है उनमें एक लंबी संदर्भ सूची रहती है। मुझे लगता है कि हमारे लेखन का जो सौष्ठव है अंततः वह साहित्य ही है। चाहे उसे संस्मरण साहित्य कह लीजिए या किसी और विधा का। मुझे विधाओं को तोड़ना अच्छा लगता है। मैं एक विधा तक अपने लेखन को सीमित नहीं रहने देता। मेरे लेखन में आपको रेखाचित्र मिल जाएगा, संस्मरण मिल जाएगा, इतिहास मिल जाएगा, यात्रा-वृत्त भी मिल जाएगा। ये किसी के लिए और हमारे लिए भी कठिन होगा कि किताब को किसी विधा के खाने में रखें। मेरी 'अशफाक़ उल्ला और उनका युग' किताब न तो पूरी तरह से इतिहास है और न ही रेखाचित्र या संस्मरण। इस किताब के बारे में सबसे पहले यही 'माया' पत्रिका में प्रकाशित समीक्षा में कहा गया था। वैसे यह पुरानी बात है। फिर भी आज तक उस किताब पर यही चस्पाँ किया जाता है। उस समीक्षा में यह भी कहा गया था कि यही इस किताब की ताकत भी है। हमारे साथ यह सुखद स्थिति रही कि हमारी किताबों के पाठक अकादमिक इतिहास लिखने वालों से ज्यादा हैं। जैसे हम

अशफाक़ उल्ला के किसी पत्र का उल्लेख कर रहे हैं और उसकी संदर्भ सूची दे रहे हैं, इससे उसके साहित्यिक स्वरूप की क्षति हो जाएगी। दुर्गा भाभी और मेरी व्यक्तिगत बातचीत हो रही है, उसमें दुर्गा भाभी ने कहा कि जयदेव कपूर ने मुझसे ये कहा। अब इसका क्या संदर्भ दें। यह मैंने इतिहास की किसी किताब से नहीं लिया है। हमने उनकी आँखों में इतिहास पढ़ा है। कुछ लोग कहते हैं कि संदर्भ का उल्लेख करना चाहिए। कर्मेंदु शिशिर ने भी दो बार इस बात का उल्लेख किया है। लोगों को मेरे लेखन की प्रामाणिकता जाँचने के लिए भी कुछ और चीजें भी तलाश करनी चाहिए। क्या हमारी किताब में ही हमारी कुंजी तलाश करोगे। अगर हम जिक्र कर रहे हैं कि ये बात हमने वहाँ से ली है, उन्होंने कहा है तो उनको पढ़िए। कम से कम हमें जाने क्यों लगता है कि हमारी किताब का साहित्यिक रूप संदर्भ सूची देने से क्षतिग्रस्त होगा। जयदेव दा मुझे कुछ सुनाया करते थे और मैं नोट कर रहा होता था। सिर उठाकर देखता तो कई बार जयदेव दा रो रहे होते थे। मेरी कलम रुक जाती। लाहौर की याद करते हुए कहने लगते, "अपना शहर अब विदेश हो गया।" हमारे लिए ये इतना पीड़ादायक नहीं हो सकता। जिंदगी और मौत के खेल आसान नहीं होते। जिस ईमानदारी से ये लोग लड़े उसको लेकर उनके भीतर हूक उठती होगी। "अरे! लाहौर की गलियाँ, लाहौर के वो ठिकाने जहाँ भगवती चरण बोहरा को हमने दफनाया, जहाँ भगत सिंह को छुड़ाने के लिए कितनी योजनाएँ बनाई। अरे! वे विदेश हो गईं।" यह पीड़ा उनके भीतर थी लेकिन हमारे भीतर उस रूप में नहीं हो सकती। हमसे किसी पत्रकार ने पूछा था कि आपको कहीं विदेश जाने का अवसर मिले तो आप क्या देखना चाहेंगे? हमने कहा, लाहौर। हम वे गलियाँ देखना चाहेंगे जहाँ शाहमान चौक पर भगतसिंह को फाँसी लगी थी। चटगाँव देखना चाहेंगे या अमेरिका जाकर गदर पार्टी का ऑफिस देखना चाहेंगे, मौलाना बरकतुल्ला की कब्र देखना चाहेंगे। वैसे हमने आज तक कोई विदेश यात्रा नहीं की है। हम तो पैदल वाचस्पति जी के साथ नेपाल तक गये हैं।

विद्यार्थी जी शाहजहाँपुर में आपने एक बहुत सक्रिय नागिरक का जीवन जिया। कई मोर्चों पर सक्रिय रहे। कुछ दुःखद घटनाएँ भी उस शहर में आपके साथ घटीं। आज उस शहर को कैसे याद करते हैं?

शाहजहाँपुर में मैंने बहुत सक्रिय नागरिक जीवन जिया है। कई बड़े सम्मेलन वहाँ आयोजित किए। पाश की हत्या के बाद सबसे पहले कार्यक्रम शाहजहाँपुर में हुआ। 9 अगस्त 1942 को लेकर, सांप्रदायिकता को लेकर ऐसे न जाने कितने कार्यक्रम वहाँ मैंने किये। मेरे मन में बेटा और पत्नी को खोने की जितनी तकलीफ है वैसी ही तकलीफ मेरे मन में शाहजहाँपुर को छोड़ने की है। मैंने उस शहर को जिया है। जहाँ आपने अपने प्रिय लोगों को खोया हो तो उस जमीन से अलग रिश्ता बनता है। बरेली आने के बाद मुझे बार-बार लगता कि यह जमीन हमारी अपनी नहीं है। कई बार रात को उठकर बैठ जाते थे। हम कहाँ आ गए? मैं इतना पागल किस्म का हूँ कि अगर शाहजहाँपुर डिपो की बस देख लेता तो लगता मेरे पिता की बस जा रही है। शाहजहाँपुर को लेकर लिखी किताब 'मेरे हिस्से का शहर' में यह भावुकता, यह संवेदना दर्ज है। हम उस शहर में रहे हैं तो हमें पता है कि कहाँ-कहाँ से हम जुड़े हुए हैं। पूरा शहर तो हमारा नहीं हो सकता। कुछ चीजें बाकी रह गईं तो हमें लगा कि एक और हिस्सा इसका लिख देते हैं। तब हमने 'शहर के भीतर शहर' लिखा। फिर भी शाहजहाँपुर को पूरा लिख नहीं पाए हैं। शायद अब तीसरा हिस्सा नहीं लिख पायेंगे।

बरेली शहर में आप लंबे समय से रह रहे हैं। बरेली को लेकर 'शहर आईना है' जैसी किताब लिखी है। इस शहर से कैसा जुड़ाव महसूस करते हैं?

बरेली शहर में रहते हुए हमें लगता है कि जिस जगह पर हम रह रहे हैं उस जगह से हमारा जुड़ाव एक कुत्ते की तरह होता है। हमारी अम्मा के मामा के पास सफेद रंग का एक सेता कुत्ता था। सेता जहाँ

बैठता था तो पहले पूँछ से जगह को साफ कर लेता था। मुझे न जाने क्यों याद आ जाता है कि सेता इस तरह से बैठता था। इस तरह से जगह को साफ करता था। शेता घूम-घूमकर पहले अपने बैठने की जगह को देखता। ठीक वैसे ही हम लोग जहां बैठें, उससे पहले यह जरूर देखें कि हम क्या हैं। बरेली आए तो बरेली का इतिहास, फ्रीडम मूवमेंट में यहाँ के लोगों के योगदान को जानने की कोशिश की और बाकी चीजों को भी। अध्ययन के दौरान पता चला कि बरेली के बारे में कुछ अंग्रेजों ने तो लिखा है लेकिन बरेली में रहने वाले किसी लेखक/नागरिक ने नहीं लिखा है। विलियम बटलर जो कुछ दिनों के लिए बरेली आया उसने पाँच सौ पृष्ठ की 'फ्रॉम बोस्टन टू बरेली एण्ड बैक' किताब लिखी। जबकि उसे यहाँ से जाना था तो उसे क्या जरूरत थी किताब लिखने की। वैसे वो लेखक भी नहीं था, लेकिन लिखा। जबकि हमारे यहाँ कितने लेखक बरेली में पैदा हुए और न जाने कितने यहाँ बाद में रहे-बसे फिर भी बरेली शहर पर उनकी लिखी कोई किताब नहीं मिलती। दूसरी किताब जिसमें बरेली का उल्लेख मिलता है, वो है डॉक्टर क्लैरा ए स्वैन की 'ग्लिम्स ऑफ इंडिया'। जिन्होंने मिशन हॉस्पिटल स्थापित किया था। डॉक्टर क्लैरा ए स्वैन भी बाहर से आई थीं और दो बार यहाँ रहीं। वह यहाँ से अपनी बहन को खत लिखा करती थीं, उन खतों में बरेली का जिक्र है। इस किताब को जब देखा तो पता चला कि उतनी सफलता से बरेली को किसी ने दर्ज नहीं किया है। तब हमने 'बरेली कोलाज' और फिर 'शहर आईना है' किताब लिखी। उन विदेशी लेखकों की मैं इसलिए तारीफ करना चाहूँगा कि बरेली के किसी भी एक नागरिक ने, किसी भी लेखक ने कुतुबखाना जैसी बरेली की केन्द्रीय जगह की तस्वीर सुरक्षित नहीं रखी। अगर डॉ. क्लैरा ए स्वैन ने अपनी किताब 'ग्लिम्स ऑफ इंडिया' में कुतुबखाना की तस्वीर को सुरक्षित न किया होता तो हम जान भी नहीं पाते कुतुबखाना कैसा था। कुतुबखाना की तस्वीर ताजमहल सरीखी है। न तो कुतुबखाना की तस्वीर बची और न ही वहाँ की लाइब्रेरी की किताबें। कहाँ गईं, किसी को पता नहीं। दरअसल, हमारे भीतर नागरिकता बोध नाम की कोई चीज नहीं है।

दामोदर स्वरूप सेठ की आप प्रायः चर्चा करते हैं। बड़े प्रखर समाजवादी थे वे। आपने उन्हें 'बाँस बरेली का सरदार' कहा है। क्रांतिकारी आन्दोलन में उनकी क्या भूमिका थी? बरेली के लोगों ने अपने इस सरदार को भुला क्यों दिया?

दामोदर स्वरूप सेठ उत्तर भारत में रासबिहारी बोस की टोली के पुराने क्रांतिकारी थे जिन्हें 'बनारस षड्यंत्र केस' (1915-16) में सात वर्ष के कारावास की सजा हुई थी। इस मामले में शचीन्द्रनाथ सान्याल को काला पानी भेजा गया था। उस समय क्रांतिकारियों ने देश की विभिन्न सैनिक छावनियों में विद्रोह कराने की बड़ी योजना का खाका तैयार कर लिया था। दामोदर स्वरूप पर बरेली छावनी में बगावत कराने की जिम्मेदारी सौंपी गई थी लेकिन एक मुखबिर के विश्वासघात के चलते यह बड़ी योजना कामयाब नहीं हो सकी। दामोदर स्वरूप सेठ ने अपनी सजा का यह कठिन समय अत्यंत साहस के साथ व्यतीत किया। सान्याल जी ने अंडमान से छूट कर अपनी प्रसिद्ध कृति 'बन्दी जीवन' की रचना की जो प्रकाशित होते ही एक तरह से क्रांतिकारियों की 'गीता' बन गई। बताना चाहता हूँ कि इस पुस्तक को पहले उन्होंने बंगला भाषा में लिखा था, लेकिन आगे चलकर स्वयं ही उसे हिन्दी में लिपिबद्ध किया। मैं बताना चाहता हूँ कि सान्याल जी लिखने चले थे कारा जीवन की कहानी लेकिन वे सम्पूर्ण विप्लवी संग्राम के मूल्यांकन और भविष्य की रूपरेखा को दर्ज करने में इस तरह संलिप्त हो गए कि वह अपने समय में युवा क्रांतिकारियों के लिए प्रेरणादायक और दिशा निर्देशक इबारत बनती चली गई। सान्याल जी बड़े दार्शनिक थे और अध्यात्म की ओर झुकाव के बावजूद वे बहुत खुले विचारों के थे। यह जानने योग्य है कि आगे चल कर जब उन्होंने क्रांतिकारी दल 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसियेशन' का संविधान बनाया तब कम्युनिज्म के जिन सिद्धान्तों को पसन्द किया, उन्हें भी उसमें समाहित कर लिया था।

बनारस मामले के समय दामोदर स्वरूप सेठ काशी विद्यापीठ के अवैतनिक अध्यापक रहे जहाँ लालबहादुर शास्त्री उनके छात्र थे। दामोदर स्वरूप, बरेली के रहने वाले थे। उनका जन्म यहाँ के बिहारीपुर मुहल्ले में हुआ था। उनकी विशेषता यह थी कि बनारस केस से छूटने के बाद वे असहयोग में भी ढाई साल के लिए जेल चले गए जो किसी भी असहयोग के लिए बड़ी सजा थी। मन्मथनाथ गुप्त कहा करते थे कि ऐसा उनके पूर्ववर्ती क्रांतिकारी जीवन को ध्यान में रख कर ही किया गया होगा। इसके बाद काकोरी केस में भी वे गिरफ्तार किए गए जहाँ मुकदमे के दौरान भयंकर बीमारी में सरकार ने उन्हें मरणासन्न जानकर रिहा कर दिया, लेकिन पहाड़ पर प्राकृतिक चिकित्सा से स्वस्थ होने पर वे पुनः उसी उत्साह से आजादी की लड़ाई में तीव्रता से सक्रिय हो गए। उनके बारे में 'मैनपुरी षड्यंत्र केस' (1918-19) के पुराने क्रांतिकारी राजाराम भारतीय ने एक बार मुझसे कहा था कि उन्होंने अपने जीवन में दामोदर स्वरूप सेठ की तरह कष्ट सहन करने वाला क्रांतिकारी नहीं देखा। मैंने उन्हें 'बाँस बरेली का सरदार' नहीं कहा था बल्कि 1930 के दिनों में वे बरेली की जनता में इतने लोकप्रिय थे कि यहाँ के लोगों ने उनके सम्मान में एक नारा गढ़ लिया था--'बाँस बरेली का सरदार, सेठ दामोदर जिंदाबाद'। सड़क पर उनके होते समय लोग उन्हें देखकर इस कवितानुमा तुकबन्दी को गुँजायमान कर देते थे।

सेठ जी कांग्रेस में भी रहे लेकिन जीवन के उत्तरार्द्ध में समाजवादी दल में शामिल हो गए। उन्हें संविधान-निर्मात्री परिषद में भी रखा गया जहाँ रह कर उन्होंने संविधान के मसविदे पर तर्कपूर्ण बहस की और संविधान को पूँजीवादी और समाजवाद का विरोधी कहा। उन्होंने उसकी प्रति पर हस्ताक्षर करने से मना करते हुए कहा कि इसे लागू करने से देश में समाजवाद की स्थापना नहीं हो सकती। वे आचार्य नरेन्द्र देव, डा. सम्पूर्णानन्द, गोविन्द प्रसाद बी.काम. और बाबू श्रीप्रकाश की कोटि के समाजवादी थे। यह जानना जरूरी है कि 1936 में काशी पुस्तक भंडार से एक पुस्तक 'साम्यवाद का बिगुल' का प्रकाशन हुआ था, जिसमें आचार्य नरेन्द्र देव, सम्पूर्णानन्द, श्रीप्रकाश, गोविन्द प्रसाद बी.काम. दामोदर स्वरूप सेठ तथा जयप्रकाश नारायण के आलेख थे। फैजाबाद से आचार्य नरेन्द्र देव के सम्पादन में छपने वाले 'संघर्ष' में भी दामोदर स्वरूप के लेख छपे थे। जीवन के अंतिम दिनों में वे लखनऊ के 'मोती महल' में जाकर रहने लगे थे। उस समय कुछ लोगों के कहने से उन्होंने अपनी आत्मकथा को भी लिपिबद्ध करना शुरू किया था लेकिन गोमती में आई बाढ़ ने 'मोती महल' को भी जलमग्न कर दिया जिसमें उनका लिखे वे पन्ने नष्ट हो गए। डा. सम्पूर्णानन्द ने अपने मुख्यमंत्रित्व काल में इस बात का प्रयास किया था कि बरेली के बिहारीपुर मुहल्ले के दामोदर स्वरूप सेठ के जन्मस्थान को संरक्षित कर दिया जाये लेकिन यहाँ के लोगों ने उसे स्मारक बनाने में कोई रुचि नहीं दिखाई। मैंने अपने प्रयास से इस शहर में जंक्शन के निकट एक पार्क में उनकी प्रतिमा लगवा दी थी जबकि उन दिनों मैं शाहजहाँपुर में था। दुखद यह है कि पिछले दिनों हुक्मरानों की ओर से दामोदर स्वरूप सेठ के नाम पर बने उस पार्क का नाम बदलने और उन्हें जाति के घेरे में कैद करने की निकृष्ट कोशिशें की जा रही हैं। यह उनके क्रांतिकारी कृतित्व को धूमिल करने की ओछी कुचेष्टाएँ हैं।

भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन में राधामोहन गोकुल का योगदान बहुआयामी है। एक ओर वे अंधश्रद्धा पर प्रहार कर तर्कवाद और वैज्ञानिक चेतना का प्रचार कर रहे थे दूसरी ओर क्रांतिकारियों का सहयोग भी कर रहे थे। उनके विषय में आपके क्या विचार हैं?

राधामोहन गोकुल ने ने देश के लिए जो कार्य किये उनका मूल्यांकन सत्यभक्त जी और रामविलास शर्मा ने किया है। प्रेमचंद ने एक आलेख में उन्हें 'आधुनिक चार्वाक' कहा है। दरअसल क्रांतिकारी आंदोलन में राधामोहन गोकुल ने अनेक प्रकार से मदद की। उन्होंने समय-समय पर क्रांतिकारियों को आर्थिक सहयोग तो किया ही साथ ही उन्हें वैचारिक चेतना से संपन्न करने का काम भी किया। एक

बार उन्होंने दो पिस्तौलें मंगवाईं जिनका क्रांतिकारियों ने अपने अभियान में सफल प्रयोग किया। एक पिस्तौल क्रांतिकारी मणींद्र बनर्जी ने सीआइडी के जितेन्द्र बनर्जी को मारने में इस्तेमाल की जिसने काकोरी के राजेंद्रनाथ लाहिड़ी को फाँसी दिलवाने का विशेष जतन किया था और दूसरी पिस्तौल से भगत सिंह ने सांडर्स को मारा।

उन्होंने अपनी कलम से निरंतर धार्मिक अंधविश्वास, कुरीतियों और आडम्बरों पर प्रहार किया। 'सत्य सनातन धर्म' पत्र के जरिये उन्होंने पंडितों और पुरोहितों के आडम्बरों के विरुद्ध सघन अभियान चलाया। वे लंबे समय तक 'प्रणवीर' का भी संपादन और प्रकाशन करते रहे। उनकी समाधि खोजने के लिए एक बार मैं बुंदेलखंड गया था।

1946 के नौसेना विद्रोह के विषय में लोगों को कम जानकारी है। हालांकि हाल के वर्षों में इस विषय पर कई किताबें आयी हैं। अनिरुद्ध देशपांडे की पुस्तक 'ऐतिहासिक नौसैनिक विद्रोह', प्रमोद कपूर की '1946 : लास्ट वॉर ऑफ इंडिपेंडेंस', सुरेन्द्र मनन का उपन्यास 'हिल्लोल' आदि। इस घटना के ऐतिहासिक महत्त्व के बारे में बताइये?

21 फरवरी, 1946 को शुरू हुआ नाविक विद्रोह भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है जबकि एचएमआईएस तलवार सहित सभी जहाजों के नौसैनिकों ने देश की आजादी के लिए बगावत का झंडा बुलन्द कर दिया था। उन्होंने एक झटके से पूरी 'शाही नौसेना' यानी 'रॉयल इंडियन नेवी' को भारतीय नौसेना में तब्दील कर बम्बई की सड़कों पर उतरने का सर्वाधिक जोखिम भरा काम किया और राष्ट्रीय नेताओं से अपनी उस बगावत का नेतृत्व करने का आह्वान भी किया, लेकिन किसी ने उनका साथ नहीं दिया। गांधी ने कहा कि नौसैनिकों को अपनी नौकरी सम्बन्धी माँगों पर ही ध्यान देना चाहिए। सरदार बल्लभ भाई पटेल ने उन्हें बेमतलब की बात टाँग अड़ाने वाला बताया। अशोक मेहता भी चुप्पी साधे रहे। अरुणा आसफ अली भी वादा करके वहाँ नहीं पहुँचीं। नौसैनिक ठगे से रह गए। अंततः उन्हें कामयाब होते आन्दोलन की स्थितियों के मध्य आत्मसमर्पण करने को विवश होना पड़ा।

दरअसल देश के राष्ट्रीय नेता उस समय निकट आती आजादी की आहट को देख-समझ कर सेना के इस विद्रोह से डर रहे थे। उन्हें लग रहा था कि देश के स्वतंत्र होने पर इसी बगावत कर चुकी फौज के जरिये सत्ता का संचालन करना उनके हित में नहीं रहेगा। लेकिन हड़ताली नौसैनिकों की यह बड़ी कामयाबी थी कि उसके बाद थल सेना और वायु सेना में भी विद्रोह की चिंगारी फैलने लगी जिससे स्वतंत्रता का मार्ग तीव्रता से प्रशस्त हुआ। इन्हीं स्थितियों में तब ब्रिटिश प्रधानमंत्री लार्ड एटली को अपनी पार्लियामेंन्ट में यह स्वीकार करना पड़ा कि भारत पर शस्त्र बल से काबू रखना अब सम्भव नहीं है और उपनिवेशवादी सत्ता ने यहाँ से जाने का निर्णय ले लिया। इस ऐतिहासिक बगावत को हिन्दी कवि शमशेर बहादुर सिंह ने 'नौसैनिकों पर बमवारी' जैसी कविता लिखकर तो उर्दू में साहिर लुधियानवी ने 'ऐ रहबरे मुल्को कौम बता, यह किसका लहू है कौन मरा' गाकर कर हिन्दी-उर्दू साहित्य में रेखांकित किया।

वैसे भी 1946 देश में मजदूरों की हड़तालों और उद्वेलन का समय था। विडम्बना यह है कि देश के आजाद होने के बाद लम्बे समय तक नौसैनिकों को 'स्वतंत्रता का योद्धा' माना ही नहीं गया। हमने 8-9 अप्रैल, 1983 को आगरा में नौसैनिकों की इस क्रांति की याद में एक बड़ा आयोजन सम्पन्न किया जिसमें देश भर के नाविक विद्रोहियों ने हिस्सेदारी की जिनमें एच.एस. बिहारी, विश्वनाथ बोस जैसे अनेक लोग आये थे। उस समय तीन सौ पृष्ठों में पुस्तक आकार में स्मारिका भी छपी जिसमें नौसैनिकों के संस्मरणों को जगह देने के साथ उस बगावत की ही नहीं बल्कि आईएनए सहित अनेक फौजी हलचलों का मूल्यांकन किया गया था। लेकिन उससे पहले नौसेना विद्रोह पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'म्यूटिनी ऑफ इन्नोसेन्ट्स' को इस ऐतिहासिक आन्दोलन में प्रमुखता से हिस्सेदारी करने वाले बी.सी. दत्त (बलाई

चंद्र दत्त) ने लिखा जिसे सिंध पब्लिकेशन, बम्बई ने प्रकाशित किया था। बी.सी. दत्त से मेरा पत्र-व्यवहार रहा था। इस इतिहास पर एक जरूरी किताब विश्वनाथ बोस की भी है। पिछले दिनों लेखक सुरेन्द्र मनन ने तत्कालीन अनेक नौसैनिकों से मिलकर इस विषय पर 'हिल्लोल' जैसी पुस्तक की रचना की जो गहराई और व्यापकता के साथ इतिहास के इस पक्ष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। इसमें अनेक साक्षात्कार हैं जो उस अनूठे विप्लव का जीवंत कोलाज रचते हैं।

आपने क्रांतिकारी आन्दोलन की विरासत को संजोने का काम किया। आगे क्रांतिकारियों के स्वप्नों के पूरे होने की उम्मीद रखते हैं? क्रांति की संभावना, विरोध की चेतना तथा लोकतांत्रिक मूल्यों का क्या भविष्य देखते हैं? आपने अपने एक लेख में लिखा है कि "हमारी पीढ़ी स्वप्नविहीन हो चुकी है। उसकी आँखों में अब देश और दुनिया के बड़े सवाल नहीं हैं, वहाँ नितांत लिजलिते सपनों की कंटीली झाड़ियाँ हैं।" ऐसे में देश का क्या भविष्य देखते हैं आप?

अपनी क्रांतिकारी विरासत को संजोने का काम अभी बहुत बाकी है। मैंने जिस तरह कार्य किया उसे पूरे देश के अनेक केन्द्रों में किया जाना जरूरी है। इतिहास की सामग्री इधर-उधर बिखरी पड़ी है जो समय के साथ नष्ट होती जा रही है। इस दिशा में अनेक लोगों के प्रयास कारगर हो सकते हैं। क्रांतिकारियों के सपने पूरे करने के लिए पीढ़ी-दर-पीढ़ी कार्य करने की आवश्यकता है। अपनी क्रांतिकारी चेतना को हमें हर समय पैनाना पड़ता है। यह निरन्तर सचेत ढंग से किए जाने वाला मिशन है। क्रांति की संभावना के लिए उद्यम जरूरी है। हमारे चारों तरफ प्रतिरोध की चेतना का ह्रास हुआ है। राजनीति पूरी तरह सत्तामुखी हो चुकी है। साहित्यकारों ने भी अपनी सीमाएँ तय कर ली हैं। मध्य वर्ग ने अनेक क्रांतिकारी नायकों को पैदा किया है, लेकिन इन दिनों इस वर्ग ने बड़े सपने देखना बंद कर दिया है। उनके सपने नितान्त ओछे और आत्मकेन्द्रित हो चले हैं। बाजार और पूँजी के प्रवाह ने पूरे मार्ग को अवरुद्ध कर दिया है। एक कैरियरवादी पीढ़ी से हम सामाजिक परिवर्तन की उम्मीद नहीं कर सकते। तब्दीली के लिए बलिदान देना पड़ता है। देश और दुनिया के बड़े सपने देखने और उन्हें हल करने की दिशा में आगे बढ़ने के लिए सामाजिक क्रांति का ताना-बाना बुने जाने की जरूरत है। निश्चय ही हमारी यह कार्रवाई क्रांतिकारी संग्राम के उसूलों और सिद्धान्तों से प्रेरित होगी। यह रास्ता वही होगा जिसे हमारे विप्लवी अपने समय में तय कर गए थे। समय और परिस्थितियों के अनुसार हमें उसका खाका बनाना होगा। रास्ता यहीं से निकलेगा।

क्रांतिकारी आंदोलन पर काम करते हुए कुछ दिलचस्प वाकये भी आपके सामने पेश आए होंगे। कुछ घटनाएँ हमारे साथ भी साझा कीजिए।

जी...ऐसी कई घटनाएँ हैं। शायद 1980-82 की बात होगी जब शाहजहाँपुर में रहते मेरे पास हैदराबाद से एक पत्र आया था कि शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के पुत्र के नाते वहाँ मेरा सम्मान किया जायेगा। इस तरह की और भी बहुत घटनाएँ हैं।

विद्यार्थी जी, क्या 9 अगस्त 1942 के आंदोलन का मूल्यांकन अब तक ठीक तरह से नहीं हुआ है?

1942 के आंदोलन का मूल्यांकन न तो कांग्रेस ने किया और न ही किसी क्रांतिकारी लेखक ने किया। सभी नायक तलाश रहे हैं। नायक ही स्थापित कर रहे हैं। इनमें से कोई आंदोलन का मूल्यांकन नहीं कर रहा है। जैसे पहले कहा गया, बयालीस का आंदोलन कांग्रेस का आंदोलन था जिसे गांधी जी ने शुरू किया था। लेकिन अंततः यह आंदोलन गांधी और कांग्रेस के हाथ से फिसलकर क्रांतिकारियों के हाथ में चला गया। वही जगह-जगह उसका संचालन करते रहे। इसीलिए उस पूरे आंदोलन का चरित्र

ही क्रांतिकारी बन गया। गांधी जी ने मूवमेंट की जो स्थिति देखी और जेल के अंदर आंदोलन की जो खबरें आ रही थीं, इससे उन्होंने कह दिया कि मैं इस आंदोलन के पितृत्व से इंकार करता हूँ। आंदोलन कई बार जनता अपने ढंग से चलाने लगती है। कोई कितना भी बड़ा नेता क्यों न हो जनता नेता को झटक देती है। एक किनारे कर देती है। मैं उससे कितना सहमत-असहमत हूँ, ये अलग बात है।

भारत के क्रांतिकारी आन्दोलन में सम्पादकों की भी बड़ी भूमिका रही है। शान्तिनारायण भटनागर से लेकर 'स्वराज्य' के प्रकाशन के लिए अपने प्राण भी दाँव पर लगा दिए। रामरख सहगल जैसे पत्रकार भी उस दौर में हुए। इन सम्पादकों के योगदान को कैसे देखते हैं?

यह लम्बी शृंखला है जिसे बलिदानी पत्रकारिता कहा जा सकता है। इसमें इलाहाबाद से छपने वाले उर्दू 'स्वराज्य' की शीर्ष भूमिका है। आज कौन जाने कि 1907 में निकलने वाले इस पत्र के संस्थापक सम्पादक उत्तर भारत में उग्र राजनीतिक पत्रकारिता के सूत्रधार कहे जाने वाले शान्तिनारायण भटनागर थे। इस अखबार के एक के बाद एक, आठ सम्पादक अपने अग्रलेखों और कविताओं के कारण लगातार काला पानी भेजे गए। आश्चर्य होता है कि जिस क्षण अदालत के भीतर उन्हें सजा सुनाई जाती थी, उसी समय कोई नया व्यक्ति आगे बढ़ कर कहता है कि मैं इस पत्र के अगले सम्पादक का कार्यभार लेना स्वीकार करता हूँ। इस सूची में 'फील्ड मार्शल' कहे जाने वाले लद्धाराम, महात्मा नन्दगोपाल, बाबूराम हरी आदि सभी के नाम हम आदरपूर्वक ले सकते हैं। हरी जी को जिस कविता के लिए अंडमान भेजा गया, वह इस प्रकार थी--*"तू क्यों हिन्द रोता व क्या चाहता है, कोई दिन में झगड़ा मिटा चाहता है/बदलने को है जालिमों की हुकूमत, नहूसत का कौआ उड़ा चाहता है/हरी क्यों न रम जाये आजादियों में, कि आजाद भारत हुआ चाहता है।"* अमीर चन्द बम्बवाल इसके नवें सम्पादक थे जो फरार घोषित हुए। उनकी खूबी यह थी वे जीवन में अपने पत्रों के सड़सठ वर्ष तक सम्पादक रहे। याद आता है कि बाद को उन्होंने 'फ्रन्टियर मेल' भी निकाला था। मुक्ति-युद्ध के लिए समर्पित इन्कलाबी पत्रकारिता के इस क्रम में हम 'कर्मवीर', 'प्रताप' जैसे अखबारों को भी इस सूची में शामिल कर सकते हैं। रामरख सिंह सहगल के 'चाँद' की तो इस क्षेत्र में विशिष्ट पहचान है जिसके 'फाँसी अंक' को लोग आज भी नहीं भूले हैं। 'चाँद' कार्यालय पर पुलिस की छापेमारी, जब्ती और मुकदमों की तलवार प्रति पल उनके सिर पर लटकी रहती थी। खेद है कि इस अध्यवसाय के लिए सहगल की भूमिका का अब तक मूल्यांकन नहीं किया जा सका। याद आता है कि पं. सुन्दरलाल की पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज' का प्रकाशन सिर्फ सात रुपये के अल्प मूल्य पर करने का उन्होंने जोखिम उठाया थाजिसे ब्रिटिश सरकार ने छपने के तुरन्त बाद जब्त कर लिया। डाकखाने तक से प्रतियाँ उठा ली गईं और जिन ग्राहकों या लोगों के पास यह पुस्तक मिली उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया। इसके लिए सहगल साहब को बहुत घाटा उठाना पड़ा लेकिन उन्होंने उफ् तक नहीं की। उनकी यह बहुत बड़ी कुर्बानी थी। उन पर मुकदमा चला, प्रेस को नुकसान हुआ। ऐसे में आर्थिक संकट उन्हें प्रतिदिन घेरे रहा। सहगल साहब की बेटी स्नेहलता सहगल कहा करती थीं कि उनके दरवाजे पर हरदम पुलिस बैठी रहती थी। यह साम्राज्यवादी आतंक के बीच पत्रकारिता का जीवित रहना था। गणेशशंकर विद्यार्थी को इसी ब्रिटिश सत्ता विरोधी पत्रकारिता के लिए सदैव स्मरण रखा जाएगा। 'सैनिक' अखबार की भूमिका का भी उल्लेख यहाँ परमावश्यक हो जाता है। यह ऐसा दौर था जब क्रांति, कविता और कलम के पहियों पर चलती और आगे बढ़ती थी। यह मुक्ति-संघर्ष का एक पृथक ही अध्याय है जिस पर गर्व किया जा सकता है।

अनेक स्थानों पर क्रांतिकारियों के नाम से दूसरे रचनाकारों की रचनाएँ छापी जाती हैं। बिस्मिल तथा अशफाक के नाम से भी दूसरे शायरों की कई गजलें प्रकाशित की जाती रही हैं। कुछ दिनों पहले देखने

को मिला कि एक प्रतिष्ठित पोर्टल पर 'दूर तक यादे वतन आई थी समझाने को' नज़्म रामप्रसाद बिस्मिल के नाम से प्रकाशित की गई थी। आप इसे कैसे देखते हैं?

यह सप्रमाण नहीं है कि 'दूर तक यादे वतन आई थी समझाने को' रामप्रसाद बिस्मिल की रचना है, जबकि अनेक जगहों पर यह उनके नाम से छपती रही है। जैसा कि 'सरफरोशी की तमन्ना' ग़ज़ल शहीद बिस्मिल के नाम से प्रकाशित होती रही थी, लेकिन अब यह प्रमाणित हो चुका है कि इसके रचनाकार बिस्मिल अजीमाबादी हैं। काकोरी के क्रांतिकारी मन्मथनाथ गुप्त इस रचना को रामप्रसाद बिस्मिल की लिखी नहीं मानते थे। इसी तरह 'मिट गया जब मिटने वाला फिर सलाम आया तो क्या' को भी कई जगह रामप्रसाद बिस्मिल की लिखी ग़ज़ल माना गया, पर यह रचना तो उर्दू शायर 'दिल' शाहजहाँपुरी' के कलाम में शामिल है जिसे देखा जा सकता है।

इस समस्त चर्चाओं के मध्य मुझे शहीद बिस्मिल की फाँसी से पहले गोरखपुर जेल के भीतर लिखी आत्मकथा की अंतिम पंक्तियाँ स्मरण आती हैं जिनमें उन्होंने कहा है, "मेरी यह इच्छा हो रही है कि मैं उन कविताओं में से भी चन्द का यहाँ उल्लेख कर दूँ, जो मुझे प्रिय मालूम होती हैं और मैंने यथा समय कंठस्थ की थीं।"

इसके बाद बिस्मिल ने जिन काव्य रचनाओं को उद्धृत किया है, उनमें जफर और रसखान तथा अन्य लोगों की रचनाएँ तथा 'चाह नहीं मैं सुर बाला के गहनों में गूँथा जाऊँ' जैसी कविताएँ भी हैं। कुछ अति उत्साही लोग इनमें से कई रचनाओं को रामप्रसाद बिस्मिल की लिखी कह कर प्रस्तुत करते हैं जबकि देखने की बात यह है कि इन कविताओं का रचयिता होने का बिस्मिल का भी कोई दावा नहीं है। आत्मरचना में बिस्मिल ने जिन बारह कविताओं को अपनी कलम से अंकित किया है, उनमें 'तिफ्ल उनको ही समझ लेना जी बहलाने को' भी सम्मिलित है। तब इस रचना को भी रामप्रसाद बिस्मिल की रची कैसे कहा जा सकता है?

बाबा नागार्जुन आपके घर में महीनों प्रवास करते थे। बाबा की कौन सी स्मृतियाँ ज्यादा कौंधती हैं?

बाबा हमारे यहाँ कैसे आए? क्यों आए? वैसे हम तो व्यक्तिगत बातचीत में बहुत मुखर भी नहीं थे। हममें इतना साहस भी नहीं था कि कहते, 'बाबा हमारे घर आइए।' और बाबा जैसे व्यक्ति हमारे घर आ जाते। दरअसल, बाबा स्वतः ही हमसे जुड़ गए। हमें याद है सबसे पहले बाबा को प्रगतिशील लेखक संघ के पचासवें अधिवेशन लखनऊ में देखा था। बाबा देर से आये थे। वे चारबाग रेलवे स्टेशन के पास रवीन्द्रालय में रुके हुए थे। बाबा के दर्शन पहली बार वहीं किए। वहाँ जाने पर देखा, बाबा लेटे हुये थे, पैरो में हल्की सूजन थी। अरुण कमल जी पास में बैठे थे। खालिस्तानी आंदोलन के दौर में जब पाश अमेरिका से कुछ दिनों के लिए हिंदुस्तान आया था तो उसका मर्डर कर दिया गया। पाश एंटी 47 संस्था भी चलाता था लेकिन बड़ा क्रांतिकारी कवि था। पंजाबी कविता की धारा को जो एक समय रोमानी कविता अमृता प्रीतम के दौर में रही, उसको बदलने का काम शिवकुमार बटालवी और पाश ने किया। पंजाबी कविता को उसने क्रांतिकारी तेवर सौंपा और कविता की नई भाषा भी गढ़ी। पाश के मर्डर के बाद सबसे पहला आयोजन शाहजहाँपुर मे हम लोगों ने किया था। शाहजहाँपुर में एक कार्यक्रम में पाश की कविताओं पर आधारित सौ पोस्टर कविताओं की प्रदर्शनी लगाई।

उस कार्यक्रम में जयदेव कपूर को बुलाया था। यह दो दिन का आयोजन था। कविता पोस्टर गांधी भवन के बाहरी हिस्से में लगाए गये थे। कविता पाठ में बाहरी और स्थानीय कवि शामिल थे। स्थानीय कवियों में वीरेन डंगवाल, अजय सिंह, कौशल किशोर आदि। फिर वह प्रदर्शनी लेकर मुझे पंजाब बुलाया गया। पाश का मौसेरा भाई हमें बुलाने आया था। हमने उसको पाश की कविताओं पर बने पोस्टर उसको दे दिये थे। कार्यक्रम में शामिल होने के लिए बड़ा खतरा उठाया था। उसने कहा था

जयदेव कपूर जी को लेकर आइएगा। जालंधर स्टेशन पर प्लेटफार्फॉर्म के शेड के कोने पर हम लाल रुमाल हिलायेंगे, आप हमारी तरफ हल्के से, उड़ती नजर से देखिएगा। फिर आप हमारे पीछे-पीछे चले आइएगा। हम बाहर आपको गाड़ी में बैठने का इशारा करेंगे। वहीं बाबा नागार्जुन को देखा। वहाँ से लौटकर एक रिपोर्ताज लिखा 'पंजाब एक और हकीकत'। 'अमर उजाला' अखबार ने पूरे पेज पर छापा था। अखबार के पृष्ठ पर अमृतसर के स्वर्ण मंदिर की तस्वीर दी थी और उसके सामने से आठ-नौ साल का जूड़ा बाँधे हुए सिख बच्चा भाग रहा है। अखबार की यह कॉपी बाबा को भी भेज दिया। दिल्ली वाले लोग बताते हैं कि बाबा ने उस रिपोर्ताज को पढ़ा और तह करके रख लिया। उसके बाद दिल्ली की जिस भी काव्य संगोष्ठी में बाबा जाते थे तो वह रिपोर्ताज जेब में डाल कर ले जाते थे। काव्य गोष्ठी शुरू होने से पहले कहते, काव्य गोष्ठी बाद में होगी पहले उस रिपोर्ताज को किसी को पढ़ने के लिए कहते। अंत में बाबा की टिप्पणी होती 'ये होता है लेखन।' बाबा से हमारा संपर्क बढ़ा और बाबा ने स्वतः ही हमारे घर आना तय किया। बाबा आए तो पौन महीने रहे। पत्नी से उनका बहुत ज्यादा लगाव था। बाबा के सारे संस्मरण उनके पास थे। घर परिवार की सारी बातें उनसे किया करते थे। उन बातों में परिवार की आलोचनाएँ भी शामिल रहती थीं। जैसे सब परिवारों में खींचतान होती है वैसे। हम तो ऑफिस चले जाते थे। बाबा पत्नी को दिनभर सुनाते रहते थे। कई बार हम पत्नी से कहते थे कि जब हमें बाबा पर लिखना होगा तो हम तुमसे सुन लेंगे। पत्नी की याददाश्त बहुत अच्छी थी। लेकिन बाबा से पहले मेरी पत्नी चली गयीं। बाबा ने बहुत स्नेह दिया। हमारा भी कद बढ़ा।

बाबा जो पत्र लिखते थे उसमें पता लिखते थे केयर आफ सुधीर विद्यार्थी और उनके जो पत्र हमारे यहाँ आते थे उन पर भी केयर आफ सुधीर विद्यार्थी लिखा होता। इससे बड़ी बात मेरे लिए क्या हो सकती है। दुःखद बात ये है कि हमारे बेटे चंदन पर बाबा को कविता लिखनी पड़ी। बाबा हमें चिट्ठियाँ हमारी पत्नी के नाम 'प्रिय सरला' करके लिखते थे। बाबा की बहुत सी चिट्ठियाँ इधर-उधर हो गयी हैं, खो गयी हैं। एक बार जब बाबा को हमारे घर से गये पंद्रह दिन ही हुए थे कि बाबा को दिल्ली में हमारे बेटे के न रहने की खबर मिली। बाबा को हमारी बहुत चिंता हुई। बाबा ने रामकुमार कृषक और हरिपाल त्यागी को चिट्ठी देकर हमारे पास भेजा और कहा बच्चे की फोटो लेते आना। साथ में ये भी कहा सुधीर को यहाँ बुलाओ। सुधीर से कहना दिल्ली आने-जाने का किराया 'अलाव' पत्रिका देगी और हम तुमको अलग से वे पैसे दे देंगे। जिससे उसका थोड़ा मन भटके। यह स्नेह और संरक्षण था बाबा का। मैं सोचने लगा कि 'अलाव' पत्रिका इतनी पैसे वाली कैसे हो गयी कि हमारा, पत्नी और बच्चों का आने जाने का खर्चा दे देगी। रामकुमार कृषक ने बहुत दिनों बाद ये बात बताई थी। हालांकि हमने पैसा लिया नहीं था। बाबा ने दिल्ली बुलाया तो मन थोड़ा बहल गया। वैसे मन कोई बाहरी चीज तो है नहीं कि बेटे की मौत का दुख हम शाहजहाँपुर में छोड़ जाएँ और हम दिल्ली चले जाएँ। शाम को हम पत्नी, बच्चों के साथ दिल्ली में बाबा के यहाँ पहुँचे। देखा बाबा के सिरहाने की तरफ मेरे बेटे की तस्वीर मेज पर रखी थी। हिंदी का इतना बड़ा विद्वान, जिसे मैथिली का 'साहित्य अकादमी' सम्मान मिला हो, जिसने बांग्ला में कविताएँ लिखी हों, उस व्यक्ति के पास साँत्वना का एक शब्द नहीं था। भाषा मूक हो जाती है। असमर्थ हो जाती है। बाबा ने एक शब्द नहीं कहा, बस रोते रहे। हम और सरला उनको चुप कराते रहे, साँत्वना देते रहे। बाबा ने हमको चिट्ठी में लिखा था कि चंदन की याद में एक शोकांतिका लिखी है जो अभी बढ़ने का नाम नहीं ले रही है। वो ठहर गयी है। मन हुआ कि देखें, बाबा ने क्या लिखा है। बाबा बहुत देर तक तक ढूँढते रहे, पर मिली नहीं। बाबा सवेरे उठे तो बोले, "सुनो सरला! चंदन सपने में आया था। उसने कहा कहाँ ढूँढ रहे हो डायरी? कपड़े रखने वाला जो बड़ा बक्सा है जिसमें किताबें भरी हैं, डायरी उसी में होगी।" डायरी बक्से में ही मिल गई। वह डायरी अभी भी हमारे पास रखी हुई है।

इसके बाद जब बाबा घर आए तो उसकी और भी बढ़िया यादें हैं। बाबा सुबह-सुबह आये थे।

जब मैं ऑफिस जाने लगा तो बोले, "सुधीर! कैंची ले आओ। हम कैंची ले आए। बोले, दाढ़ी-बाल काट दो। हमने कहा, बाबा हम ये कैसे कर सकते हैं? ऑफिस जाते हुए नाई को भेज देते हैं।" शाम को जब ऑफिस से लौटकर देखा तो बाबा के दाढ़ी-बाल बहुत छोटे थे। मैंने कहा, बाबा अच्छा नहीं लग रहा। बोले, "छह महीने की फुर्सत हो गई।" बाबा का ऐसा सादा जीवन था। बाबा के उसी प्रवास का एक और किस्सा सुनाता हूँ। एक दिन ऑफिस से लौटे तो देखा बरामदे में रस्सी का झूला डला है और बाबा हमारी दोनों बेटियों को झूला झुला रहे हैं। वह दृश्य देखकर हमने पत्नी से कहा आज झूला डलवा दिया? बोलीं बाबा ने झूला डलवाया है और कहा आज तीज है। बाबा ने पैसे देकर दोनों बच्चियों के लिए फ्रॉक मंगवाकर दी है। बाबा से हमारा ये रिश्ता अटूट है। किसी का इतना आत्मीय नहीं हुआ। इस आत्मीयता से बल मिलता है। बाबा को खोने की पीड़ा होती है। बाबा की रचनावली और बहुत सी किताबें रखी हैं। कोई सरला को भेंट की है, कोई हमें भेंट की है, कोई हमें, चंद्रमोहन और अमितेश को मिलाकर भेंट की है। बाबा ढेर सारी किताबें लेकर बैठ जाते थे। सब किताबों पर अलग-अलग समर्पण लिखते थे। बाबा की राइटिंग बहुत गजब की थी। उस पर बांग्ला का प्रभाव है। बाबा की राइटिंग के कई ऐसे वीडियो हैं। लिखते तो कलात्मक ढंग के शब्द बनते चले जाते। बाबा ने मुझे एक बार डाँटा था। बाबा बहुत गुस्से वाले थे। एक दिन ऐसा हुआ कि हमारे साथी चंद्रमोहन ने बाबा से कहा, बाबा एक दिन हमारे यहाँ भी खाना-वाना रख लिया जाए। उन दिनों टीवी पर रामायण सीरियल आता था। बाबा ने उनको चलने का कोई टाइम दिया होगा, हमें याद नहीं आ रहा है वो क्या था? चूँकि चंद्रमोहन उस समय यहाँ के डीएम के ऑफिस में काम करते थे थे तो उनकी जीप ड्राइवर को लेकर आनी थी। बाबा की तैयारी का क्या, मुँह पर हाथ फेरा, गले में अंगोछा लपेटा, बाल-वाल काढ़ने नहीं, शीशा देखने का भी झंझट नहीं। बाबा तैयार होकर बैठ गये। बेंत लेकर। फिर बोले, "सुधीर आई नहीं जीप!" मैंने कहा, बाबा आ रही होगी। दो-तीन बार बाबा ने पूछा। वे बेंत पर हाथ रखे, बेचैन बैठे रहे। थोड़ी देर में चंद्रमोहन आए। बोले, बाबा ड्राइवर रामायण देखने लगा तो थोड़ी देर हो गयी, बस आ ही रहा है। अब बाबा ने छड़ी उठाई, इतनी गालियाँ दी कि मैं तो दंग रह गया। किसी को कुछ कहने का साहस तो था नहीं। मैं धीरे से दूसरे कमरे में निकल गया।

हमें याद है जब उस बार बाबा चलने लगे तो जाते समय उन्होंने झोले से बांग्ला की 'देश' पत्रिका का एक अंक निकाला। क्रांतिकारियों पर विशेषांक था। पत्रिका के मुख-पृष्ठ पर खुदीराम बोस की स्टैंडिंग स्टैचू की तस्वीर बहुत कलात्मक ढंग से छपी थी। बाबा बोले, सुधीर बांग्ला सीख लो, बहुत आसान है। तुम्हारे लिए चीजें बांग्ला भाषा में बहुत हैं और किसी भाषा में नहीं मिलेंगी। 'देश' पत्रिका का यह अंक दिए जा रहे हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो साल भर बाद मिलें या छह महीने बाद मिलें वे वहीं से बात शुरू करते हैं, जहाँ पिछली मुलाकात में खत्म की थी। ये खूबी हमने बाबा में, जयदेव जी में देखी थी। चंदन की घटना के बाद पत्नी को एक बेटा हो चुका था। पता चला बाबा आ रहे हैं। बाबा सीढ़ी चढ़कर आए तो पत्नी बेटे को गोद में लेकर पहुँच गईं। बच्चे के सिर पर हाथ फिराया। कहा, अरे! बहुत छोटा है। अणु है। तब से उसे अनु-अनु कहने लगे। जब नाम लिखवाने की जरूरत पड़ी तो अनु विद्यार्थी लिखवा दिया। बच्चे का नाम कोई सोच-समझकर नहीं रखा। बाद में बाबा की राइटिंग में एक पर्चा भी मिल गया जिसमें बाबा ने कई नामों को मिलाकर लिख हुआ है। लेकिन नाम अनु ही चलता रहा। बाबा अंदर आकर बैठे और हम दोनों सामने बैठ गये। उन्होंने पूछा, बांग्ला सीख ली? हम चुप, हमारे पास कोई उत्तर नहीं। बाबा कुछ और पूछें, इससे पहले ही कहा बाबा हम सीख नहीं पाए। बोले, "अभी तुम्हारा थोड़ा नाम हो रहा है। कुछ चीजें छप रही हैं। तुम समझ रहे हो, तुम बड़े लेखक हो गये हो। यह बात जान लो कि एक भाषा सीखकर कोई बड़ा लेखक नहीं हो सकता।"

खाली समय निकाल देंगे लेकिन बाबा जो हमसे कह गये थे वो आज तक पूरा नहीं कर पाए।

अगर बांग्ला सीख ली होती तो मुझे उसका बहुत लाभ मिलता। बाबा हमारे विषय के प्रति, हमारी चेतना के प्रति, पक्षधरता को लेकर बहुत चिंतित रहते थे। सुबह जब हम ऑफिस जा रहे होते तो कहते कुछ पोस्टकार्ड, कुछ अंतर्देशीय, कुछ सादे कागज, पैड में लगाकर रख दो। साथ में कुछ किताबें निकालकर रख दो। वे हम रख जाते थे। शाम को आए तो बाबा ने कहा ये चिट्ठियाँ तुमको डिस्पैच करनी हैं। वे दिन भर अपने लेंस से पढ़ते रहते थे। चश्मा नहीं लगाते थे। बाबा खान-पान में बहुत लापरवाह थे। दमा था इसके बावजूद चावल में गुड़ मिलाकर और पानी डालकर खाते। उन दिनों हमने एक लेख अरुणा आसफ अली पर लिखा था। वो लेख टाइप किया हुआ डिस्पैच के लिए एक किताब के बीच में मुड़ा रखा था। वो लेख बाबा को मिल गया। रात को खाना खाने के बाद बोले, सुनो अरुणा आसफ अली पर क्यों लिखा? मैंने कह दिया बाबा लिखा तो है लेकिन डिस्पैच नहीं किया। किसी को भेजा नहीं। बोले, यह तो कोई जवाब नहीं हुआ। बाद में समझ में आया कि बाबा ने क्यों टोका।

1992 में 1942 के आंदोलन के पचास साल पूरे हो रहे थे। बाबा फिर हमारे घर आए। बाबा ने कहा, "सुनो सुधीर! 9 अगस्त 1942 की क्रांति की याद में शाहजहाँपुर में कार्यक्रम करो।" मैंने कार्यक्रम आयोजित किया जिसमें लगभग एक सौ पचास लोग उपस्थित थे। बाबा उस समय तक बहुत अशक्त हो गये थे। बाबा सहारा लेकर मंच पर आए। जब उनका बोलने का नंबर आया तो माइक पर खड़े हुए और कहने लगे, "अभी हमें पुरस्कार घोषित हुआ, पैसे की थी जरूरत। बहुत लोग कहते रहे न लो पुरस्कार लेकिन ले लिया। अब जब पुरस्कार ले लिया। घरवालों की नजर उस पर है। इतना लड़के को दे दिया। इतना लड़कियों को दे दिया। बचा इतना। हमने पोस्ट मास्टर से कहा, जो पैसा बचा है उसकी एफडी कर दो। पोस्ट मास्टर बोला, दो एफडी कराओ। जरूरत पड़े तो तुड़वा लेना।" इतना कहकर, बाबा बैठ गए। बाबा के सामने कोई क्या बोलता। बाबा को कोई कुछ कह नहीं सकता था। वे उग्र हो जाते थे। दुर्वासा थे। लेकिन बहुत ही स्नेही भी थे। हमारे परिवार को उन्होंने बहुत स्नेह दिया है। अभी हमें बाबा पर लिखना बाकी है।

आप अनेक लेखकों के सम्पर्क में रहे लेकिन विशेष आत्मीयता और सम्मान के साथ विष्णु प्रभाकर और हंसराज रहबर का जिक्र करते हैं। क्यों ये दोनों लेखक आपको अधिक प्रिय हैं?

मैं अपनी बातचीत में विष्णु प्रभाकर और हंसराज रहबर की चर्चा कर चुका हूँ। अपने लेखन के शुरुआती दिनों में दिल्ली पहुँचने पर मेरा ठिकाना विष्णु जी का पुराना मकान बन गया जिसका पता 818, कुण्डेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली, मुझे अभी तक कंठस्थ है। मैं रेल से पुरानी दिल्ली स्टेशन पर सुबह तड़के यानी मुँह अँधेरे पैदल चलकर उनके दुछत्ते पर पहुँचता तो जाड़े के दिनों में भी वे मुझे हर बार घुटनों पर कम्बल डाले छोटी मेज पर सामने टेबुल लैम्प रखे काम करते मिलते। कमरे का दरवाजा भिड़ा होता जिसे हम धक्का देकर खोल लेते थे। ऐसा वे इसलिए करते कि दूध वाला हल्के से आकर दूध की बोतल रखकर पुरानी बोतल उठा ले जाए जिससे उनके लेखन कार्य में बाधा न पड़े। लेखन पर ही निर्भर रहने वाले इस अनूठे साहित्यकार की कहानी 'धरती अब भी घूम रही है' मुझे बहुत प्रिय है जिसमें उन्होंने न्यायपालिका में जजों के भ्रष्टाचार पर तीखा प्रहार किया था। उनकी अनेक कहानियाँ, नाटक और जीवनियाँ मुझे बहुत प्रिय हैं। जिन दिनों शरत चन्द्र पर लिखी उनकी कृति 'आवारा मसीहा' प्रकाशित हुई तब मैंने विष्णु जी को चौदह वर्षों की दीर्घ अवधि में लिखी जाने की इसकी रचना-प्रक्रिया पर बोलने के लिए शाहजहाँपुर आमंत्रित किया। उस समय मैंने उनसे यह भी कहा कि इस आयोजन के बाद शहर के लोगों के बीच 'गांधीवाद की प्रासंगिकता' पर मैं उनका यह व्याख्यान रखना चाहता हूँ। मेरे पत्र में उत्तर में उन्होंने मुझे लिखा था, "प्रिय सुधीर, पहले तो मेरे मन में आया कि दूसरे विषय पर भाषण देने के लिए तुम्हें मना कर दूँ क्योंकि मैं साहित्य पर ही बात करता हूँ, राजनीति पर नहीं, लेकिन

दूसरे ही क्षण मैंने सोचा कि चलो इससे मेरी भी परीक्षा हो जायेगी कि आखिर मैं कितने पानी में हूँ।" आप जानते हैं मेरी गांधीवाद में कोई आस्था नहीं थी, न अब है लेकिन विष्णु जी पर गांधीवादी होने का लेवल चस्पाँ था। मैं कह सकता हूँ कि मेरे शहर में विष्णु जी का वह सर्वोत्तम व्याख्यान था जिसे सुनने वाले दो सौ श्रोता मंत्रमुग्ध बने रहे। बाद को अपने नगर में एक अखिल भारतीय क्रांतिकारी सम्मेलन में आयोजन के समय विष्णु जी को भी इसकी सूचना भेजते हुए मैंने कहा कि इस कार्यक्रम में हम क्रांतिकारी इतिहास लेखन के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव भी पारित करेंगे। वे बोले, "प्रस्तावों से इतिहास लेखन नहीं हो सकता। यह काम कोई व्यक्ति ही अपने जीवन के कुछ वर्ष लगा कर कर सकता है, लेकिन वह जो दर्द का अर्थ जानता हो।" क्रांतिकारी आन्दोलन के इतिहास लेखन में मैं इसी दर्द को जानने-समझने में संलग्न बना रहा। मेरे इतिहास लेखन में संवेदना का तत्व चीन्हें जाने के पीछे यही पृष्ठभूमि है। मैंने जो कुछ लिखा उस पर विष्णु जी की गहरी दृष्टि थी। एक दिन मुझसे बोले, "अभी तुम्हारे काम का मूल्यांकन नहीं हुआ है जो देर-सवेर होगा।" जब वे मेरे घर आए तब मेरी बड़ी बेटी का नामकरण उनकी पुस्तक 'शुचिस्मिता' के नाम पर रखा गया। एक प्रसंग का और जिक्र करना चाहूँगा। उन दिनों लम्बी कानूनी लड़ाई के बाद वे कुण्डेवालान वाला अपना किराए का मकान छोड़कर महाराणा प्रताप एन्कलेव के अपने घर में पहुँच चुके थे, तो भी मेरा उनसे पत्र-संपर्क निरन्तर बना रहा। जब कुछ दिन ही मेरी चिट्ठी उनके पास नहीं पहुँचती तो वे ही मुझे लिख कर मेरा हाल-चाल पूछते। लेकिन इस मध्य बेटे चन्दन और पत्नी सरला के निधन की दुर्घटनाओं के मध्य मैं उनके पास दिल्ली नहीं जा पा रहा था। इसमें पाँच-छह साल गुजर गए।

एक रोज सादतपुर पहुँचकर मैंने मित्र रामकुमार कृषक से कहा कि मैं विष्णु जी से मिलने उनके नए घर में जाना चाहता हूँ। मेरा इरादा देखकर उन्होंने भी साथ चलने का मन बना लिया। वहाँ पहुँचकर देखा कि विष्णु जी उसी मुद्रा में टेबल के सहारे छोटी मेज के सामने बैठे लिखने में संलग्न थे। मैं चरण स्पर्श करके जिस कुर्सी पर बैठा उस ओर नीम अँधेरा था। वे कृषक जी से बात करने लगे। ऐसा लगा कि वे मुझे ठीक से देख या पहचान नहीं पाए। उसी समय कृषक जी ने मेरी दो पुस्तकें अपने थैले से निकाल कर विष्णु जी के सामने रख दीं। उन्हें देखकर विष्णु जी एकाएक कहने लगे कि लड़के ने बहुत काम किया है लेकिन पिछले दिनों इसका बेटा और फिर पत्नी नहीं रही। यह सुनकर कृषक जी ने उनसे कहा, "विष्णु जी, सुधीर विद्यार्थी इधर बैठे हैं। आप ध्यान नहीं दे पाए।" "ओह", कह कर विष्णु जी ने मुझे पास बुलाकर मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद की झड़ी लगा दी। मैं सराबोर हो गया। विष्णु जी के करीब दो सौ पत्र मेरे पास होंगे जिनमें सभी का उपयोग मैं अभी नहीं कर सका हूँ। यह मेरी बड़ी अमानत है।

हंसराज रहबर दूसरी चिन्तनधारा के लेखक थे। वे अपनी विकास प्रक्रिया में आर्यसमाज, कांग्रेस, कांग्रेस समाजवादी, कम्युनिस्ट और फिर उग्र वाम से गुजरते हुए नक्सलवाद के मुकाम तक पहुँचे। उन्होंने भी मन्मथनाथ गुप्त की भांति वाम पार्टियों की कार्यप्रणाली पर मेरे एक आलोचनात्मक लेख के उत्तर में मुझसे सहमति जताते हुए एक लेखनुमा प्रतिक्रिया 'अमर उजाला' में छपवायी थी। उनसे मेरा दीर्घ अवधि तक सम्पर्क रहा। कुछ वर्षों तक उनका आवास एस-16, नवीन शाहदरा, दिल्ली, मेरी शरणस्थली बना रहा। उनके भी दर्जनों पत्र मेरे पास सुरक्षित हैं। वे बहुत खरे, निर्भीक और ईमानदार व्यक्ति थे। उन्होंने अनेक चर्चित उपन्यास, 'गाडोलना' जैसी न जाने कितनी कहानियाँ और आलोचना के क्षेत्र में 'गांधी बेनकाब', 'नेहरू बेनकाब' तथा 'गालिब बेनकाब' जैसीं विवादास्पद पुस्तकों के साथ 'प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन' जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हिन्दी साहित्य को दीं। उन्होने 'रामविलास शर्मा का खोखला मार्क्सवाद' लिखा तो प्रेमचन्द की 'कफन' कहानी को उनकी निकृष्ट रचना भी कहा। वे इमरजेंसी में इक्कीस महीने जेल में रहे और चीन से युद्ध के समय भी उन्हें बन्दी रखा जा चुका था।

बहुत अच्छी ग़ज़लें भी उन्होंने लिखीं। याद करता हूँ कि रहबर जी के मूल्यांकन की दिशा में कोई खास काम नहीं हुआ। कथाकार धर्मेन्द्र गुप्त ने अवश्य अपने सम्पादन में 'विषयवस्तु' का एक विषेशांक उन पर जारी किया था। वे कम्युनिस्टों से भी निरन्तर लड़ते-झगड़ते रहे। मेरा पत्नी-बच्चों सहित उनके घर-परिवार में रुकना-ठहरना होता था। एक प्रसंग याद आता है जिसे कहने-बताने में मैं आज तक संकोच करता रहा। यह पहली बार व्यक्त कर रहा हूँ। दरअसल यह इतना व्यक्तिगत है कि अब तक वह मेरे भीतर ही दबा-छिपा पड़ा रहा। अपने साढ़े बारह वर्षीय बेटे चन्दन के आकस्मिक निधन के बाद दुःख की उस घड़ी में हम पत्नी और दोनों बेटियों के साथ रहबर साहब के घर ठहरे हुए थे। उस समय रहबर साहब की बेटी भी आई हुई थीं। उनका बेटा और बहू तो थे ही। तब मेरी दोनों बेटियाँ शायद आठ और दस वर्ष की रही होंगी। मेरे पुत्र को खोने की पीड़ा रहबर साहब और उनकी पत्नी कौशल्या जी गहरे तक महसूस कर रहे थे। एक बार रात्रि को किसी समय कौशल्या जी ने मेरी पत्नी को समझाया, "अभी तुम्हारी और उनकी उम्र ही क्या है। एक बच्चा और हो जाये, और मैं कहती हूँ कि बेटा ही होगा। ये सब तो क्रांतिकारी हैं, अपने ढंग से सोचते हैं। बताओ तुम, जब तुम्हारी बेटियाँ ब्याह कर चली जायेंगी तो तुम किसके सहारे रहोगी?" यह बात बहुत बाद को पत्नी ने मुझे बतायी। हमारी अगली सन्तान बेटे का जन्म हुआ तो पत्नी ने सबसे पहले कौशल्या जी और रहबर साहब को इसकी खबर देने को कहा। ....तो यह रिश्ता हमारे और रहबर साहब के परिवार के बीच रचा-बुना था जिसे सोच कर मैं भावुक हो जाता हूँ। उनके कई शे'र मेरे कानों में अक्सर गूँजते रहते हैं--मरहम की जुस्तजू नहीं रहबर को दोस्तों, जख्मों से नाखूनों से सँवारा कभी-कभी' या "पेड़ के पत्ते गिनने वालों तुम रहबर को क्या जानों, कपड़ा-लत्ता ठीक न हो, पर बात तो उसकी भारी है।"....सच कहूँ तो मेरे जानते रहबर एक जुनून थे। मेरी उनकी तीखी बहस-मुबाहिसों के बाद भी खूब पटी। हिन्दी के संसार में आनन्द स्वरूप वर्मा ही हैं जिन्होंने मुझसे रहबर साहब पर एक पुस्तिका लिखवाई जिसे उन्होंने शिवमंगल सिद्धान्तकर के साथ मिलकर नव सर्वहारा सांस्कृतिक मंच से 2013 में जारी करते हुए दिल्ली में एक कार्यक्रम किया जहाँ मेरे साथ नीलाभ भी उपस्थित थे। बाकी लोग तो रहबर साहब को विस्मृत कर बैठे।

आप इतने समर्पित भाव और ईमानदारी से लेखन कर रहे हैं। अपनी पुस्तकों की पहुँच या पाठकों की प्रतिक्रिया से आप कितने संतुष्ट हैं? पढ़ने की कम होती रुचि के दौर में लोगों की उदासीनता से निर्थकताबोध और निराशा भी होती है?

क्रांतिकारियों के प्रति मेरे आत्मीय जुड़ाव और उनकी वैचारिक आस्थाओं के प्रति साम्य को मेरे लेखन में निरन्तर चीह्ना जा सकता है। देश का क्रांतिकारी संग्राम स्वतन्त्रता और समाजवाद के लक्ष्य तथा वास्तविक अर्थों में धर्मनिरपेक्षीय समाज की संरचना के लिए समर्पित था। मेरे लेखन का उद्देश्य विप्लव पथ के बलिदानियों के उसी संघर्ष को आगे बढ़ाने का है। मेरे लिए उस इतिहास की प्रासंगिकता की तलाश सर्वाधिक अर्थवान है। सम्पूर्ण क्रांतिकारी संग्राम में दर्ज भविष्य के स्पष्ट संकेतों की ओर देखना हमारे लिए अपरिहार्य है। इसके साथ ही इतिहास अर्थपूर्ण है। अपने दीर्घ लेखन काल में पाठकों को क्रांतिकारी चेतना से निरन्तर परिचित कराने का दायित्व जैसे मेरा मिशन बन गया है। एक समय इसी मकसद से छोटे-छोटे टैक्ट्रों का प्रकाशन हमें बहुत जरूरी लगता था जिससे हम अधिक पाठक वर्ग तक अल्प मूल्य पर अपनी चीजों को पहुँचाने का उपक्रम कर सके। यह प्रयोग हमने लम्बे समय तक किया, लेकिन इसके लिए प्रकाशक के सम्मुख भी वैसा लक्ष्य होना चाहिए। धीरे-धीरे इन स्थितियों में निरन्तर तब्दीली आती चली गई। प्रकाशन विशुद्ध व्यवसाय में परिवर्तित होता गया। यद्यपि प्रतिबद्ध प्रकाशक हमारे मध्य हैं लेकिन उनकी संख्या नगण्य है। व्यावसायिक लक्ष्य न होने के चलते उनकी पहुँच भी सीमित है। बड़े प्रकाशकों की दृष्टि मुनाफा कमाने की होती है। वे पूँजी से संचालित होते हैं। यह सच

है कि उनका नेटवर्क अधिक विस्तारित होने के चलते किताबों की पहुँच दूर तक संभव होती है, पर वे उनका मनमाना मूल्य रखते हैं जो अनेक बार पाठकों के लिए भारी होता है। मैं इससे असंतुष्ट हूँ, पर न चाहते हुए बड़े प्रकाशकों की उस गुंजलक में फँसना जैसे हमारी नियति बन चुकी है। इसका फायदा प्रकाशक को ही होता है। लेखक को वह किताबों की बिक्री का समुचित हिसाब नहीं देता और न ही उसके पारिश्रमिक का उचित भुगतान करता है। पाठकहीनता का यह समय हमारे लिए अधिक चिन्तनीय है। हम इस नए दौर से हर रोज दो-चार हो रहे हैं। यह एक तकलीफदेह स्थिति है। कई बार पुस्तक सादर भेंट करने पर भी पाठकीय या लेखक मित्रों की प्रतिक्रिया नहीं मिलती। ऐसे में अपने लिखे को जांचने या उसमें संशोधन करने अथवा उसका पुनरीक्षण करना हमारे लिए अत्यन्त कठिन हो जाता है। मेरा लिखा हरदम किसी पाठक को सम्बोधित होता है। ऐसे में हम चाहते हैं कि लेखक और पाठक के मध्य एक संवाद की स्थिति बने जो वर्तमान में नगण्य हो चली है। लगता है कि हम एक सन्नाटे से भरे बियावान के बाशिंदे हो चले हैं। पहले इस तरह का माहौल नहीं था। क्या मैं उम्मीद करूँ कि यह जो हमारे चारों तरफ जाला बुना जा चुका है वह टूटेगा? यह सवाल जैसे मैं खुद से भी कर रहा हूँ। चाहता हूँ कि पठन-पाठन के वे दिन फिर से लौटें। अभी निकट अतीत में साहित्यिक पुस्तकों, पत्रिकाओं की उपलब्धता कितनी सहज होती थी लेकिन अब रेलवे, रोडवेज पर किताबों की दुकानें पूरी तरह बंद हो चुकी हैं। शहरों में वे ठीहे अब नापैद हो चुके हैं जहाँ से किताबें खरीद कर हमने अपने पढ़ने की रुचियों को पंख लगाए थे।

'संदर्श' पत्रिका निकालने की योजना कैसे बनी और वे कौन लोग थे जिन्होंने इस योजना में शुरुआती दौर में साथ दिया?

'संदर्श' की योजना बहुत कच्चेपन से बनी थी। हमें लगता है कि कुछ काम कच्चेपन से शुरू करने चाहिए। क्योंकि बहुत परिपक्व होकर भी कई काम नहीं हो पाते। उस समय हमारे संपर्क में एक युवा आये थे जो पत्रिका निकालने के लिए दबाव बना रहे थे। चंद्रशेखर आजाद की बलिदान शताब्दी आने वाली थी। उस समय हमारे घर क्रांतिकारी भवानी सिंह रावत और उनके साथी आये हुए थे। बाचतीच में विचार बना कि आजाद की बलिदान शताब्दी पर क्यों न एक नई पत्रिका निकाली जाए, जिसका 27 फरवरी को ही 'आजाद' पर केंद्रित विशेषांक का प्रकाशन और विमोचन हो। वे युवा हरदोई के रहने वाले थे। हमने कहा हम तो हरदोई आते-जाते रहते हैं। बोले कहाँ? हमने कहा, जयदेव कपूर के पास। बोले हमें तो पता ही नहीं। उनके साथ जयदेव कपूर के यहाँ गये। पत्रिका की योजना बनी और उसका नाम रखा गया 'अगला पथ'। संरक्षक जयदेव कपूर, संपादक सुधीर विद्यार्थी और सुशील कुमार वर्मा। जयदेव दा ने उनसे कहा, सुधीर को मैं अच्छी तरह से जानता हूँ ये पैसे की व्यवस्था नहीं कर पायेंगे। पत्रिका का कोई पैसा देना चाहे कि रख लीजिए तो इसे भी लेने में संकोच करेंगे। पैसे की व्यवस्था तुम्हें ही देखनी पड़ेगी संपादन का काम ये देख लेंगे। उन्होंने हाँ कह दिया और पत्रिका का पहला अंक तैयार हो गया। हमारे क्रांतिकारियों से संपर्क थे तो सबसे हमने संस्मरण मंगा लिए। जब सारी सामग्री आ गई तब हमने उनसे कहा अब इसे छपने को दे दिया जाए। दो-चार बार उन्होंने जवाब नहीं दिया। टालते रहे। फिर हमने बैठाकर उनसे कहा कि भाई पत्रिका के प्रकाशन में देर हो जायेगी। उन्होंने कहा, हमारी अम्मा ने मना कर दिया। मुझे बहुत गुस्सा आया। हमने कहा, अम्मा से पहले पूछ लिया होता। किसी परिवर्तन के काम में अम्मा से पूछकर लगोगे। अब हम निराश हो गए। उस सामगी को लेकर श्याम सिंह बागी के पास गये। चूँकि श्याम सिंह बागी 'साथी' निकालते थे। उन्हें ये सब बताया। मैंने संकोच करते हुए कहा, क्यों न 'साथी' पत्रिका का आजाद विशेषांक निकाल लें। उन्होंने मुझे डाँटा, बोले, "तुम यहाँ क्यों आए? कल्पना प्रेस जहाँ से 'साथी' छपता है वो तुम्हारे पड़ोस में है या मेरे? मैंने कहा, हमारे। वहाँ

पहले मैटर देकर आना चाहिए था जहाँ से 'साथी' का 'आजाद विशेषांक' छपेगा। फिर हमें बताने आते।'' 'साथी' का आजाद विशेषांक छपा। इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क ले जाकर उसका विमोचन किया गया। सारे अंक उसी दिन बिक गये। उसकी एक जर्जर कॉपी कहीं किताबों में दबी होगी। फिर पत्रिका की बात आई-गई हो गई। उसके बाद हमारे संपर्क में एक युवा मित्र आए अमितेश अमित। वह बार-बार पत्रिका निकालने के लिए पीछे पड़े। मैंने कहा, पत्रिका का मतलब है कि पत्रिका कम से कम थोड़ी दीर्घजीवी हो और उसके प्रकाशन में निरंतरता हो। अगर हम तय करें कि तीन महीने में अंक निकालेंगे तो तीन महीने में अंक निकल जाना चाहिए। हमारा विचार है कि पत्रिका का वैचारिक स्वरूप शुद्ध साहित्यिक हो। पत्रिका का एक नाम हमने 'संदर्श' तय किया।

शाहजहाँपुर में जब तक रहे पत्रिका समय पर निकलती रही और अमितेश अमित पूरी व्यवस्था देखते रहे। बीसलपुर आने के बाद भी पत्रिका निकलती रही। बरेली आने के बाद भी तीन-चार अंक निकाले। पत्रिका के दो-तीन सामान्य अंक निकालने के बाद हमें लगा कि सारी लघु पत्रिकाएँ एक जैसी होती हैं। पत्रिका में दो-तीन कहानियाँ, पाँच-सात कविताएँ, एक-दो वैचारिक लेख होते हैं। जब पत्रिका चलने लगी तो चिट्ठी-पत्री दे दी, एक संपादकीय दे दिया। लेकिन इनमें स्थानीयता का बोध, स्थानीय हवा-पानी की गंध नहीं होती। पत्रिका को ऐसा बनाया जाए जिसमें स्थानीयता की गंध हो, रूप हो। तब विचार बना कि कुछ शख्सियतों को केंद्र में रखकर पत्रिका निकाली जाए। हालाकि ये रचनाकार स्थानीय होते हुए भी राष्ट्रीय महत्त्व के हैं। सुरूर जहांनाबादी, राधेश्याम कथावाचक, भुवनेश्वर, निरंकार देव सेवक, हृदयेश पर अंक निकालने की योजना बनी। यह भी तय कर लिया गया कि तीन सौ पृष्ठों का अंक निकलेगा। निरंकार देव सेवक जी पर निकल गया। हृदयेश, भुवनेश्वर पर भी निकल गया। सुरूर जहाँनाबादी पर अंक अभी भी संपादकीय लिखा हुआ तैयार पड़ा है। छप नहीं पाया। जबकि राधेश्याम कथावाचक वाले अंक की हम तैयारी नहीं कर पाए। हालांकि उस अंक की पूरी रूपरेखा मधुरेश के साथ बैठकर बनाई थी।

पत्रिका के बीच में सामान्य अंक भी निकलते रहे जिससे सामान्य पाठक भी जुड़े रहें। लेकिन नौकरी छूटने के बाद जो थोड़ा-बहुत पैसा पत्रिका में लगा लेते थे, वो भी संभव नहीं रह गया। पत्रिका बेच नहीं पाते थे। हमें छोटे-छोटे विज्ञापन डेढ़-दो हजार के मिल जाते थे पर वो भी वसूल नहीं पाते थे। इन सबके लिए मन में बहुत संकोच है। इन सब कारणों से पत्रिका अंततः बंद कर दी। ये तसल्ली है कि पत्रिका एक अच्छी मौत मरी। हिंदी की ये पहली पत्रिका थी जिसके अंकों पर हिंदी समाज से लेकर बांग्ला लेखक बिमल मित्र तक की प्रतिक्रियाएँ मिलीं। हिंदी-उर्दू भाषा के कहानीकार और 'शेष' पत्रिका के संपादक हसन जमाल साहब ने एक पत्र मुझे लिखा था कि 'संदर्श' पत्रिका पर इतनी अच्छी प्रतिक्रियाएँ, इतनी बहस तलब बातें कैसे पत्रों के मार्फत आ जाती हैं? उन्होंने लिखा, हमें तो डाक से पत्रिका भेजकर ऐसा लगता है, खल में डाल दिया। लेकिन 'संदर्श' के लिए ऐसा नहीं था। पत्रिका के हर अंक का नोटिस लिया गया। इसलिए पत्रिका को बंद करने का अफसोस रहा। पत्रिका के जरिए हम अपना वैचारिक पक्ष रखते थे। कोलकाता में लघु पत्रिका आंदोलन को रूप देने के लिए जो मीटिंग हुई और फिर जो समन्वय समिति बनी उसमें छह पत्रिकाओं को शुमार किया गया। 'संदर्श' को उस समन्वय समिति का मेंबर बनाया गया। जबकि मीटिंग में मैं अपने निजी दुःख के कारण शामिल नहीं हो पाया था। हमने ज्ञानरंजन जी को इस बारे में पत्र भी लिखा था। ज्ञान जी ने मुझे पत्र लिखा था। बाद में वह पत्र छपा भी है। पत्र की बानगी कुछ ऐसी थी, ''आपके व्यक्तिगत संकट, परेशानियों से सब लोग वाकिफ हैं इसलिए आपके प्रति कोई शिकायत नहीं है।'' वैसे लघु पत्रिका 'आंदोलन' जैसा कुछ बन नहीं पाया और बन भी नहीं पाता। हर आंदोलन की ऐतिहासिक भूमिका होती है। वह एक समय के बाद समाप्त हो जाती है। लघु पत्रिका मंडप या केंद्र जो पहले से बने-बनाये थे या जो नए बनाये गये उन

पर अपना पैसा लगाकर पत्रिकाएँ रजिस्टर्ड डाक से भेजने के बाद उनका पैसा पत्रिका बेचकर कोई वापस नहीं करता। आज कुछ पत्रिकाएँ विज्ञापनों के जरिए निकल रही हैं। बहुत-बहुत विज्ञापन ले लेती हैं जैसे 'तद्भव'। हमें ताज्जुब होता है। जबकि हम विज्ञापन नहीं ले पाते थे। 'संदर्श' को बंद करने का अफसोस मुझे भी रहा लेकिन पत्रिका में रचनाओं के चयन को लेकर कभी समझौता नहीं किया। पत्रिका का उपयोग किसी से संबंध बनाने के लिए नहीं किया। इसी ईमानदारी के चलते ही 'संदर्श' का चयन छह पत्रिकाओं में हुआ था।

'अग्नि नहीं मौन' पुस्तक में आपने कवि विनय कुमार की एक पंक्ति उद्धृत की है--'कोई एक पते पर पूरा का पूरा नहीं रहता'। आप कई शहरों में रहे। किस स्थान के प्रति मन में अधिक मोह है या कहें किस पते को मुकम्मल पता बनाने की हसरत रही?

'अग्नि नहीं मौन' मेरे संस्मरणों की पुस्तक है जिसमें भिन्न समयों पर लिखे यादनामों के अतिरिक्त तीन अंशों में लिखे गए आत्मकथ्य को भी जोड़ा गया है। एक आलेख के प्रारम्भ में विनय कुमार की कविता पंक्ति 'कोई एक पते पर पूरा का पूरा नहीं रहता' में मेरी निरन्तर विस्थापन की सघन पीड़ा की ओर संकेत है जिसके दंश समय-समय पर मेरे मन-पटल पर गहराई से जख्म की मानिन्द दर्ज हो जाते रहे। पहली बार खेत में हल जोतते समय पिता की डाँट सुनकर रोजगार के लिए गँव से बाहर जाते हुए जब मैंने भरी आँखों से पलट कर अपने खेत और खलिहान देखे तब मैं जोर-जोर से सिसकियाँ भरने लगा था जिसे किसी ने भी नहीं देखा-सुना। इसके बाद विस्थापन का वह दंश जैसे मेरे जीवन का हिस्सा बन गया। शाहजहाँपुर शहर में नौकरी के दौरान कर्मचारी संगठन का प्रदेशीय नेतृत्व करने की सजा उच्च न्यायालय ने मुझे शहर-बदर करके दी जो सर्वथा नियमविरुद्ध थी लेकिन न्यायपालिका की तानाशाही के विरुद्ध हमारे लिए सारे रास्ते बन्द थे। ऐसे में शाहजहाँपुर से फतेहगढ़ पहुँच कर अपना शहर छोड़ने की पीड़ा को झेलते-सहते ही मैंने 'मेरे हिस्से का शहर' तथा 'शहर के भीतर शहर' जैसी दो पुस्तकों की रचना की। चार साल बाद वहाँ से छूटा तो फिर बीसलपुर और बरेली की बस्ती मेरा मुकाम बनी, लेकिन मेरी जड़ें तो शहीद रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाक़ उल्ला और हिन्दी के जाने-माने असंगत नाटक लेखक भुवनेश्वर और साहित्यकार धर्मवीर भारती की शाहजहाँपुर कही जाने वाली जमीन में हैं, जहाँ से मैं कभी विलग नहीं हो सकता। कहूँ कि 'सदर बाजार, शाहजहाँपुर' का पता मेरे नाम के साथ आज भी इस कदर नत्थी है कि गोया मैं किसी दूसरी जगह का वाशिंदा हो ही नहीं सकता। मैंने अपनी एक कविता 'वजूद' में कुछ तरह भी कहा है, "जहाँ जाता हूँ पूरा का पूरा नहीं जा पाता, जहाँ से लौटता हूँ तो पूरा का पूरा नहीं लौटता/कोई चाहे तो इन जगहों पर मेरी किरचों की तलाश कर सकता है। आप देख सकते हैं कि मैं बहुत बिखरा और छितरा हुआ आदमी हूँ जिसके शरीर और मन के कुछ हिस्सों की शिनाख्त आप इन जगहों पर कर सकते हैं जिनका जिक्र मैंने ऊपर किया है। दो दशक से अधिक बाँस बरेली की बेतहाशा भागती-दौड़ती और अपनी सांस्कृतिक पहचान को भूलती-बिसराती बस्ती के बीच मैं अपने वजूद की तलाश करते गोया थक जाता हूँ। सुरमे के लिए मशहूर शहर बरेली कमोबेश मेरी दो किताबों 'बरेली : एक कोलाज' तथा 'शहर आईना है' में गहराई से उपस्थित हुआ है, फिर भी मैं इस बस्ती से प्यार नहीं कर पाता। मेरे तईं यह एक विडम्बना ही है। मेरी आँखों में खन्नौत और गर्रा नदियों के बीच बसी 'शहीदों की नगरी' के बाद किसी और के लिए कोई स्थान नहीं है। इस आप नॉस्टेल्जिया भी कह सकते हैं जो कई बार मुझे बहुत तकलीफ देता है।"

कवि, आलोचक पंकज चतुर्वेदी ने वीरेन डंगवाल पर लिखी किताब 'यही तुम थे' में ज्ञानरंजन का एक कथन उद्धृत किया है कि 'रचना के लिए एक महान आलस्य चाहिए'। आप इस पर क्या कहेंगे? आप

आलस्य करते हैं?

पंकज चतुर्वेदी की वीरेन डंगवाल पर केन्द्रित पुस्तक में ज्ञानरंजन के कथन का वह उद्धरण स्मरण में नहीं है। मुझे लगता है कि उनका आशय यह रहा होगा कि कोई भी सार्थक रचना त्वरित कार्यवाही या निरी तात्कालिक टिप्पणी अथवा जल्दबाजी में संभव नहीं हो पाती। चीजों को भीतर पकने देना चाहिए। साहित्य इसी की माँग करता है। शायद इसी ठहराव से उनका अर्थ 'एक महान आलस्य' हो सकता है। अपने तईं मैं बेचैन और स्थितियों से कमोबेश उद्वेलित होकर निरंतर अपने काम में संलग्न बना रहा। तो जो है वह सबके सामने है। मेरे एजेंडे में अभी भी बहुत काम है। देखिये कितना कुछ पूरा कर पाता हूँ।

विद्यार्थी जी, अपनी कुछ प्रिय पुस्तकों के नाम बताइए। आपकी दृष्टि में एक अच्छी रचना की क्या विशेषताएँ होती हैं?

मैं साहित्य का अच्छा, निरन्तर या सजग पाठक कभी नहीं रहा। प्रारम्भ में कहानियों और उपन्यासों में रुचि थी, लेकिन उसके बाद क्रांतिकारी आन्दोलन से जुड़ी रचनाएँ पढ़ने में मेरा रुझान हो गया। यह अकारण नहीं था बल्कि मैं सत्रह वर्ष की उम्र से ही देश के जीवित क्रांतिकारियों से मिलने और उनके अनुभव और इतिहास प्रसंगों को जानने-खोजने में लग गया जिसके लिए दूरस्थ यात्राएँ भी करनी पड़ीं। मेरे प्रयासों से क्रांतिकारी आन्दोलन से जुड़ा दुर्लभ और अप्राप्य साहित्य व दस्तावेज मेरी पकड़ में आते चले गए। इस इलाके और कुछ बाहर की मेरी प्रिय पुस्तकों में शचीन्द्रनाथ सान्याल का 'बन्दी जीवन', रुद्र काशिकेय की 'बहती गंगा', मन्मथनाथ गुप्त की 'क्रांतिकारी की आत्मकथा', पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'अपनी खबर', भुवनेश्वर की 'कारवाँ', रामप्रसाद बिस्मिल की आत्मकथा, रामवृक्ष बेनीपुरी की 'गेहूँ और गुलाब', अमृतलाल नागर की पुस्तक 'गदर के फूल', हंसराज रहबर की 'मेरे सात जन्म' और 'प्रगतिवादः पुनर्मूल्यांकन', जगदीश चन्द्र माथुर कृत 'पहला राजा' और 'दस तस्वीरें', पं. बनारसी दास चतुर्वेदी की 'नब्बे वर्ष', शिवानी की पुस्तक 'आमोदर शांतिनिकेतन', विष्णु प्रभाकर की 'क्या खोया क्या पाया', राही मासूम रजा का 'आधा गाँव', अब्दुल बिस्मिल्लाह की 'झीनी झीनी बीनी चदरिया', भाऊ समर्थ की 'मिस्सी', गिरीश कारनाड की आत्मकथात्मक पुस्तक 'यह जीवन खेल में', सुरेन्द्र मनन की 'हिल्लोल' जैसी अनेक कृतियाँ हैं जिन्हें मैं बार-बार पढ़ना चाहता हूँ। यह सूची दीर्घ है। दरअसल अपनी रुचियों और पक्षधरताओं के चलते ही कोई रचना मन को स्पर्श करती और भीतर तक उतरती तथा देर तक याद रहती है। भाषा का सौष्ठव मुझे आकृष्ट करता है। उसे जहाँ पाता हूँ वहीं एक बन्धन सरीखा बन जाता है। मुझे मंगलेश डबराल का गद्य भी जोड़ता है और स्वयं प्रकाश के कथा-साहित्य में भी ऐसे तत्त्व की तलाश मुझे हर बार प्रभावित करती है। उसी तरह चन्द्रकांत देवताले, असद ज़ैदी और कुमार अंबुज की कविताएँ अच्छी लगती हैं जिन्हें मैं बार-बार पढ़ता हूँ। प्रत्येक रचना में जैसे हर पाठक अपने को पाता और उसकी तलाश करने के साथ ही उससे तादाम्य स्थापित करता है, कमोबेश कुछ-कुछ वैसा ही। ऐसी रचना का पाठ उसे सुख भी देता है। वैसे साहित्य के सबके अपने मानक होते हैं। मैं कह सकता हूँ कि वैसी कोई आलोचकीय दृष्टि और अध्ययन के सिलसिले का मेरे पास अभाव है। मुझे न जाने कितनी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें न पढ़ पाने का खेद भी है जबकि उनमें से अनेक मेरे निजी संग्रह में हैं।

पिछले कुछ समय से आप हिन्दी के विलुप्त हो रहे शब्दों या आँचलिक बोलियों के शब्दों के प्रयोग और संरक्षण को लेकर बात करते रहे हैं? यह कितना महत्त्वपूर्ण है?

किसी भी जेनुइन रचनाकार का यह दायित्व है कि वह समाज और भाषा में विलुप्त हो रहे शब्दों

को अपनी कृतियों में संरक्षित करे लेकिन इस ओर अब किसी को ध्यान नहीं है। इसका कारण यही है कि खड़ी बोली कही जाने वाली हिन्दी ने अपनी आंचलिक बोलियाँ से खाद-पानी लेना बन्द कर दिया है। ऐसा करके हिन्दी की शक्ति को हमने जाने-अनजाने क्षरित करना शुरू कर दिया है जिसकी हानि का दायित्व हमारे ऊपर है। हिन्दी ने अपनी बोलियों ब्रज, मगही, भोजपुरी, मालवी, मैथिली आदि का कम नुकसान नहीं किया है। उर्दू से तो हमारी दूरी बन जाने के राजनीतिक कारण भी हैं। हम यहाँ अहिन्दी भाषी प्रदेशों की भाषा समस्या पर बात नहीं रहे हैं। हमने जो कारण बताए उनके चलते ही खड़ी बोली में लिखे गए साहित्य में एकरसता पसरती गई, उसमें लोच और मीठापन या फिर धरती की गंध का अनुपस्थित होते चले जाना हमारे लिए घाटे से भरा रहा है।

वर्ष 2000 में जब जनपदीय इतिहास और संस्कृति पर मेरी पुस्तक 'पहचान बीसलपुर' छप कर आई, जिसकी पर्याप्त चर्चा भी हुई, उसके बाद मेरा ध्यान इस ओर गया कि उसमें जो प्रारम्भिक संस्मरणनुमा आलेख मेरे छोटे-से गाँव पर है, उसमें देहाती जीवन की बोलियों, कहावतों, रवायतों, परम्पराओं आदि का ठीक से समावेश नहीं हो पाया है। मैं एक तरह से इसे लिपिबद्ध करते समय उदासीन ही बना रहा या यों कहूँ कि इस ओर मेरा ध्यान नहीं गया, जो एक रचनाकार के लिए अक्षम्य है। वहाँ ग्रामीण जीवन के दृश्य अपनी बोली के लहजे और शब्दावली के अभाव के चलते पूर्णता में चित्रित नहीं हो पाये हैं। इसे लेकर मेरे भीतर अजीब-सी कचोट है। मैं उसका पुनर्लेखन करना चाहता हूँ ताकि उसे कुछ ठीक-ठाक किया जा सके, पर इसके लिए अभी समय नहीं मिल सका है। मुझे याद आता है कि बरेली में निरंकार देव सेवक के घर मैंने राहुल सांकृत्यायन का पोस्ट कार्ड देखा था जिसमें उन्होंने सेवक जी से अपने इस अंचल का लोक साहित्य एकत्र करने का सुझाव दिया था। देखा जाए तो हमने लोक की बहुत उपेक्षा की। धीरे-धीरे समय व्यतीत होने के साथ वे चीजें विलुप्त होती जा रही हैं जो हमारी सांस्कृतिक थाती है और जिसे संरक्षित करने का बड़ा दायित्व हमारे कंधों पर है।

शहरीकरण और नगरीय जीवन की ओर भाग-दौड़ ने बहुत कुछ नष्ट हो जाने दिया। अब एक दूसरा दुखद पहलू यह भी हो चला है कि शहर पसर कर गाँवों को भी अपनी चपेट में लेने लग गए हैं। बाजार ने गाँवों को गाँव नहीं रहने दिया। ऐसा कहना प्रगति अथवा तब्दीली का विरोध करना नहीं है। पर इसे नजरंदाज नहीं किया जा सकता कि शहर के दुष्प्रभावों ने ग्रामीण जीवन से उसका बहुत कुछ छीन लिया है। गाँव अब प्रेमचन्द के युग के नहीं रहे। वहाँ चुनावी राजनीति ने सब नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। यह पृथक से विमर्श का विषय है, पर हिन्दी को बचाने और उसे जन अनुकूल बनाने के लिए हमें अपनी बोलियों के प्रति उपेक्षा के भाव का परित्याग करना होगा। यह उसे जीवन देने जैसा है यह मैं मानता हूँ।

आपने रचनात्मक लेखन क्यों नहीं किया, क्या यह काम आपकी प्राथमिकता में नहीं था या क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास लेखन के काम को आपने ज्यादा जरूरी समझा या समय के साथ-साथ वह कठिन लगने लगा?

सवाल के तीसरे हिस्से 'कठिन लगने लगा' से मैं सहमत नहीं हूँ। पहली बात तो यह है कि हमारी रचनात्मकता को हमारे क्रांतिकारियों पर आधारित लेखन में देखा जा सकता है। यद्यपि ऐसे लेखन में भाषा के स्तर पर, अभिव्यक्ति के स्तर पर, रचनात्मकता की कितनी गुंजाइश होती है वो एक अलग सवाल है। फिर भी हमारा लेखन इस मामले में सबसे अलग है। हमें लगता है कि हम कविता क्यों लिखते हैं? एक बात तो यह है कि कोई बात कहनी है। विधा की तलाश खुद मन कर लेता है कि यह बात किस विधा में कही जा सकती है। लेकिन कविता हम इसलिए भी लिखते हैं कि हमें अपनी बात कहने का ढंग आ जाए कि कम शब्दों में कोई बात कैसे कही जा सकती है। उस काव्यमय भाषा को आप

हमारे लेखन में तलाश कर सकते हैं। दूसरी बात यह है कि हम अपनी इस विधा के अकेले लेखक हैं। अब कोई इसे हमारी गर्वोक्ति या आत्ममुग्धता न माने। हाँ, अगर कुछ लोग काम कर भी रहे हैं तो वे यह काम कर रहे हैं कि भगत सिंह के दस्तावेज, जो कि रॉयल्टी फ्री हैं उनको संकलित करके अपने नाम से संपादित कर रह हैं। ऐसे संकलनों के कई-कई संस्करण निकलते रहते हैं।

यह हमारी बहुत बड़ी कमी है कि हम केवल भगत सिंह को हीरो बनाकर पेश कर रहे हैं। भगत सिंह अकेले अच्छा नहीं लगता है। भगत सिंह का कोई भी काम, कोई भी अभियान अकेले अंजाम तक नहीं पहुँचा। यह अलग बात है कि इतिहास में किसको ऊपर जगह मिली, किसको ख्याति मिली। कई बार यह संयोग भी होता है। हाँ, यह भी बात सही है कि भगत सिंह संपूर्ण क्रांतिकारी आंदोलन के सबसे बड़े प्रवक्ता के रूप में सामने आया लेकिन सत्तर साला क्रांतिकारी संग्राम (आरंभ अगर 1857 मान लिया जाए तो 1930-31 तक) धीरे-धीरे विकसित होकर एक भगत सिंह पैदा कर पाया। भगत सिंह को आप व्यक्ति के रूप में मत देखिए बल्कि पार्टी के विकास के क्रम में देखिए। ये अलग बात है कि उसका प्रवक्ता कौन बना। लेकिन भगत सिंह को अकेले श्रेय देना क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास और उसकी वैचारिकता को बहुत नुकसान पहुँचायेगा। भगत सिंह, सुखदेव को लगभग लताड़ते हुए एक जगह कहता है कि तुम क्या समझते हो कि मैंने और तुमने यह क्रांति की? यह समय और परिस्थितियों की उपज थी। हम और तुम न होते तो कोई दूसरा होता। इस नाते सिर्फ भगत सिंह को हीरो बनाकर पेश करना ठीक नहीं। भाई, कौन सा अभियान था जिसके पीछे अकेले भगत सिंह थे? जयदेव कपूर मुझसे एक बात कहा करते थे कि सुधीर, भगत सिंह से पहले भी समाज में बड़े-बड़े विचारवान लोग हुए हैं। विचार क्रांतिकारी आंदोलन को कई बार बहुत आगे नहीं ले जाता है। यद्यपि विचार तत्त्व जरूरी है, उसके बिना भी आपकी क्रांति निष्फल है, उद्देश्यहीन है। एक एक्शन कई बार क्रांतिकारी आंदोलन को बहुत आगे ले जाता है। बम फेंकने से पहले भगत सिंह ने जो पर्चा फेंका उसमें इस बात को स्वीकार भी किया। जयदेव जी एक बात कहा करते थे कि भगत सिंह ने जब सांडर्स को मारा उसके बाद वह युवा हृदय सम्राट बन गया। इससे संपूर्ण क्रांतिकारी आंदोलन बहुत आगे पहुँच गया। मैं अपनी पहली वाली बात पर आना चाहूँगा वो ये है कि सांडर्स को मारना पार्टी ने तय किया था, अकेले भगत सिंह ने तय नहीं किया था। वहां एक-एक व्यक्ति का एक्शन भी निर्धारित हुआ करता था कि कौन पहली गोली चलाएगा, कौन दूसरी और कौन किस मोर्चे पर रहेगा। सांडर्स वध चन्द्रशेखर आजाद के नेतृत्व में हुआ था लेकिन नाम भगत सिंह का आता है। चंद्रशेखर आजाद सबकी सुरक्षा का सबसे बड़ा मोर्चा संभाले हुए थे। अगर आजाद उस दिन वो मोर्चा न संभाले होते, तो हो सकता है कि राजगुरू या भगत सिंह में से कोई एक पकड़ा जाता या मारा जाता। चूँकि वैसी निशानेबाजी किसी और की थी नहीं, इसलिए चन्द्रशेखर आजाद उस मोर्चे पर थे। यह पूरी पार्टी का अभियान था। हम उसका श्रेय केवल भगत सिंह को देने लगते हैं यानी हम हीरोइज्म को स्थापित कर रहे हैं।

8 अप्रैल 1929 को असेम्बली में बम फेंकने की घटना पार्टी का फैसला था। पार्टी इस अभियान में भगत सिंह को नहीं भेज रही थी। जयदेव दा सुनाया करते थे कि पार्टी ने तय किया था कि मुझे भेजेगी। गिरफ्तारी के बाद दिए जाने वाले स्टेटमेंट को भी तैयार कर लिया गया था। पार्टी भगत सिंह जैसे प्रवक्ता और बौद्धिक नेता को खोना नहीं चाहती थी। इसलिए उनको पीछे रखा गया था। लेकिन संयोग से जब आजाद की देखरेख में सब तैयारियां चल रही थीं तो उस समय दिल्ली आए भगतसिंह के चहेते मित्र सुखदेव ने सवाल कर दिया कि तुम बम फेंकने क्यों नहीं जा रहे हो? असेम्बली में बम क्यों फेंका गया, मजदूर विरोधी बिल को लेकर पार्टी का स्टैण्ड क्या है, यह तुम ज्यादा बेहतर ढंग से बता सकते हो। गिरफ्तारी के बाद अदालत को मंच के रूप में इस्तेमाल भी कर सकते हो। क्या तुम चाहते हो कि तुम्हारे बारे में भी भाई परमानंद जैसा फैसला जज लिखे? भाई परमानंद जो बाद में हिंदू

महासभा के नेता हो गए के बारे में जज ने लिखा था कि यह व्यक्ति क्रांतिकारी आंदोलन का मस्तिष्क है लेकिन यह इतना कायर और डरपोक है कि अपने जूनियर को फायरिंग लाइन में आगे भेज देता है और खुद पीछे बना रहता है। यह बात भगत सिंह को चुभ गई और उसने जिद पकड़ ली कि अब तो बम फेंकने हम ही जायेंगे। उसकी जिद पर पार्टी को अनुमति देनी पड़ी। भगत सिंह के साथ बटुकेश्वर दत्त थे लेकिन हम कई बार बम केस का जिक्र करते हुए बटुकेश्वर दत्त तक को भूल जाते हैं। हमारे मित्र जो विभिन्न नामों से भगत सिंह के दस्तावेज संपादित करके बेच रहे हैं, उसमें उनका कुछ नहीं है। उनसे मेरा एक सवाल है कि यदि आप भगत सिंह को इतना चाहते हैं, तो कल तक भगत सिंह के जो साथी जीवित थे, वे कहां थे? किन स्थितियों में थे? वे किन अभावों में मरे? यह सब जानने की कोशिश आपने क्यों नहीं की?

डॉ. गयाप्रसाद के पैरों में सूजन आ गई थी, शिव वर्मा की एक आंख की रौशनी तो अंडमान में ही चली गई थी। जयदेव दा ने जीवन के अंतिम समय में एक पर्चा भेजकर मुझे ड्राइवर से बुलवाया था। मेरी उनसे वही आखिरी मुलाकात थी। जयदेव कपूर जैसा सीना मैंने बहुत कम लोगों का देखा। लोगों का सीना चौड़ा होता है लेकिन उनका सीना खूब उभरा हुआ था। जब वो मंच पर कहीं भाषण देने खड़े होते तो उनका कुरता सीने पर टंगा सा रहता। जब हम उन्हें देखने पहुँचे, उस समय वे अपने दूसरे लड़के के यहाँ थे। सीना पिचककर आधा हो गया था। यहाँ तक गनीमत थी। एक समय आता है जब हमारा शरीर अशक्त होता है। हम उनके पास बैठे। उन्होंने हमारा हाथ पकड़ लिया और बोले, "सुधीर, तीन दिन से खाना नहीं मिला।" यह कहते हुए मेरा मन काँप जाता है। क्या हममें से किसी की इनके बारे में जानने की जिम्मेदारी नहीं थी। चंद्रशेखर आजाद के साथी भवानी सिंह रावत जिनसे आजाद यह कहकर गए कि लौट कर आ रहे हैं और साथ में ही चाय नाश्ता करेंगे। उसी दिन अल्फ्रेड पार्क में किसी से मिलने गए और वहीं उनका एनकाउंटर हो गया। 1983 में मैंने अखबार में पढ़ा कि चंद्रसिंह गढ़वाली को सरकार द्वारा दी गई संपत्ति जब्त हो गई थी। उसके बाद उन्होंने कुछ कर्जा सहकारी बैंक का लिया था। कर्जा समय से न चुका पाने के कारण उनकी बची हुई संपत्ति नीलाम होने जा रही थी। मुझे बड़ी चिंता हुई। लेखन के क्षेत्र में उस समय तक मैं नया-नया था लेकिन जिस तरह का मेरा लेखन था उससे चीजें बनती चली गयीं। 'दिनमान' और 'ब्लिट्ज' ने मेरी बड़ी मदद की। चंद्रसिंह गढ़वाली की उस समय नीलाम होने जा रही संपत्ति को मैंने बचा लिया। उनके बेटे आनंद गढ़वाली का पत्र आया, "आदरणीय चाचा जी आपने हमारे लिए इतना किया।" लंबा पत्र है जो छपा भी है। अब तो आनंद गढ़वाली भी नहीं हैं। उसके बाद मुझे पता लगा कि बिजनौर के पास कौड़िया रेंज में जो तब उत्तर प्रदेश में था। चंद्रसिंह गढ़वाली को कुछ संपत्ति लीज पर दी गई थी। लेकिन जैसे ही मायावती जी का शासन आया तो उन्होंने यह कहते हुए उसे वापस ले लिया कि चंद्रसिंह गढ़वाली तो उत्तर प्रदेश के नहीं बल्कि उत्तराखंड के निवासी थे। कितना दुखद है यह! हमें याद है कि हम इतना ही प्रयास कर पाए कि जब उत्तराखंड के तत्कालीन मुख्यमंत्री रमेश पोखरियाल निशंक बरेली में उत्तरायणी मेले का उद्घाटन करने आए तो मैंने इस संबंध में उन्हें एक ज्ञापन सौंपा। इस काम में कम्युनिस्ट पार्टी के कॉमरेड शंभूदत्त बेलवाल जी ने मद्द की थी। वे मुझे मुख्यमंत्री के पास ले गए और मैंने उन्हें वह ज्ञापन दे दिया। भीड़भाड़ के कारण उस समय कुछ बातचीत नहीं हो पायी। बाद में एक सरकारी पत्र मेरे पास आया कि आपका दिया ज्ञापन संबंधित विभाग को उचित कार्यवाही के लिए भेज दिया गया है। लेकिन उस मामले में हुआ कुछ नहीं।

एक किस्सा और मैं आप लोगों को सुनाता हूँ। जयदेव दा मुझे सुनाया करते थे कि राजगुरु, सुखदेव और भगत सिंह, फाँसी की सजा सुनाने के बाद लाहौर जेल की काल कोठरी में बंद कर दिए गये थे। इनके सामने जो कोठरियाँ थीं उनमें वो कैदी बंद थे, जिन्हें काला पानी और दूसरी सजाएँ दी

गई थीं। एक रात अचानक किसी जेल कर्मचारी ने आकर लंबी सजा पाए क्रांतिकारियों से कहा कि उठो, तैयार हो जाओ। जेल में तैयार होने का क्या मतलब होता है सब लोग समझ गए कि हमें कहीं जाना है। जब बाहर निकल कर आए तो इन लोगों को बेड़ियाँ पहनाई जाने लगीं। मोहम्मद अकबर जेलर था। अनुशासन के मामले में इतना सख्त था कि उसके सामने किसी की कुछ कहने की हिम्मत नहीं होती थी। जयदेव दा बताते थे कि मैंने बिना ज्यादा कुछ सोचे हुए जेलर से काल-कोठिरियों में बंद तीन साथियों से एक बार मुलाकात करने की अनुमति माँगी। कहा कि अब इनसे जीवन में दोबारा मुलाकात नहीं हो पायेगी।

जयदेव दा बहुत भावुक होकर कहते थे कि पता नहीं कैसे मोहम्मद अकबर उस दिन पसीज गया। उसने कहा जाओ मिल लो। बोले, हम खनकती बेड़ियों का बोझ लिए उनके पास पहुँच गये। राजगुरु, सुखदेव अपनी-अपनी कोठरियों में सो रहे थे। लेकिन भगत सिंह आधी रात को भी काल कोठरी के बाहर से आ रही रौशनी में कोई किताब पढ़ रहा था। एकदम चौंकन्ना हो गया कि तुम लोग यहाँ कैसे? भगत सिंह के साथी उन्हें सरदार कहकर पुकारते थे। वे बोले, "सरदार यह तो हमें भी नहीं पता लेकिन कहीं जाना है। उसके बाद कभी मुलाकात नहीं हो पायेगी।" थोड़ी देर सन्नाटा रहा तो किसी ने सवाल कर दिया कि सरदार यह बताओ कि तुम इस समय कैसा महसूस कर रहे हो? उसने स्वाभाविक ठहाका लगाया, "अरे! इस पर तो पहले भी कई बार बात हुई है। हम तो कुछ ही दिनों में फाँसी चढ़ जायेंगे। लेकिन तुम लोगों के सामने बहुत लंबी जिंदगी है और इतनी कठिन जिंदगी है कि तुम्हें एक-एक पल मौत की तरफ यातनाएँ, उत्पीड़न सहते हुए बढ़ना है। हमें उम्मीद है कि तुम हारोगे नहीं, थकोगे नहीं और पस्त नहीं होगे। एक बात उन्होंने और कही कि जब बाहर से काल कोठरी लाँघकर एक आवाज आती है--'इंकलाब जिंदाबाद', तब मुझे लगता है कि मुझे मेरी जिंदगी की कीमत मिल गई।" और फिर अपने से उसने कहा था जिसे स्वगत कथन कह सकते हैं, जैसे नाटक में कोई पात्र कई बार बोलता है, "और साढ़े तेईस साल की इससे ज्यादा कीमत हो भी क्या सकती है?" इतना संतुष्ट था वो। वह अपने चिंतन में इस मुकाम तक पहुँच चुका था। भगत सिंह की यह विशेषता थी, उसे शहीदे आजम अगर आज कहा जाता है तो उसके पीछे भी कुछ कारण हैं। लोग नहीं जानते, कह तो सब देते हैं। मुझे लगता है कि वही व्यक्ति राजनीति में संपूर्ण हो सकता है जो साहित्य और संस्कृति में भी उतना ही दखल रखता हो जितना राजनीति में। पहले ये चीजें थीं, चाहे गांधी को देखिये, राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, रामवृक्ष बेनीपुरी, सम्पूर्णानंद को देखिए, ये सब राजनीति के जितने हिस्सेदार थे, साहित्य और संस्कृतिमें भी उतना ही दखल रखते थे। आज राजनीति और साहित्य-संस्कृति का यह अंतर्संबंध टूटा है। भगत सिंह इसीलिए बड़ा योद्धा है क्योंकि वह बड़ा क्रांतिकारी नेता होने के साथ साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में भी उतना ही दखल रखता था। जैसे पाश एक बड़ा कवि था लेकिन उसे उतनी ही वैज्ञानिक समझ राजनीति की भी थी। कोई विषय ऐसा नहीं था जिस पर भगत सिंह ने कलम न चलाई हो, बोला या लिखा न हो, चाहे धर्म का सवाल हो, सांप्रदायिकता और छुआछूत का सवाल हो। यहाँ तक कि जब वो छात्र था तब पंजाबी भाषा और लिपि की समस्या पर उसने एक लेख लिखा जिसे दूसरा पुरस्कार मिला था। उस आलेख को सामने रखकर गिरिराज किशोर ने लिखा है, " 'भगत सिंह की भी सुनें' और गिरिराज जी ने लिखा है कि बड़े से बड़ा साहित्यकार और चिंतक भाषा के सवाल पर अपने समय में आज भी उस हद तक संबोधित नहीं होता जैसे भगत सिंह अपने समय में संबोधित हुए। भाषा और लिपि की समस्या पर लिखा गया उनका लेख आज भी लाइन ऑफ एक्शन है, भाषा के सवाल पर।"

सीमा आजाद की जब जेल डायरी 'औरत का सफर' छपकर आई तो वह और उसके पति विश्वविजय का फोन आया कि आपसे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में 'औरत का सफर' का विमोचन कराना चाहते हैं। यह दोनों माओवाद के आरोप में जेल गये थे। सीमा आजाद की जेल डायरी हमने पढ़ी

तो उसमें दूसरे देश के क्रांतिकारियों का जिक्र है। वैसे उन क्रांतिकारियों की महानता को लेकर किसी को संदेह नहीं है। लेकिन जिस जेल में आप रही हैं उस जेल में बंद रहे अपने देश के क्रांतिकारियों के विषय में कुछ नहीं लिखा है। हमारे लिए राष्ट्रीय/अंतरराष्ट्रीय होने से पहले क्षेत्रीय/आँचलिक होना बेहद जरूरी है। क्षेत्रीयता/आँचलिकता, राष्ट्रीयता या अंतरराष्ट्रीयता की विरोधी नहीं है। बल्कि वही मिलकर यह सब बनता है। हम अपने जमीनी इतिहास को छोड़कर सही इतिहास नहीं जान सकते।

यहाँ बरेली में खान बहादुर खान एक समय बड़ा नाम रहा है। बरेली कॉलेज के दो क्रांतिकारी जिनमें एक अध्यापक और एक छात्र था। जिन्हें फाँसी लगी थी। लेकिन सबसे बड़े क्रांतिकारी के रूप में नाम दूसरे दौर की क्रांति में दामोदर स्वरूप सेठ का आता है। मैंने 'अमर उजाला' दैनिक में दामोदर स्वरूप सेठ पर संडे मैगजीन के लिए एक लेख भेजा था। उस समय संडे मैगजीन कवि वीरेन डंगवाल देखते थे। लेख का शीर्षक था 'बाँस बरेली का सरदार'। वो लेख वीरेन डंगवाल जी ने संडे मैगजीन में पहले पन्ने पर छापा। लेख में सेठ जी की तस्वीर नहीं थी। तब लोगों को पता चला कि सेठ जी का महत्त्व क्या है और यह भी पता चला कि वह यहीं के थे और उनका मकान भी यहीं था। ये उस समय की बात है जब दिनेश चौधरी विधायक थे और राजकुमार अग्रवाल मेयर। इन लोगों ने दामोदर स्वरूप सेठ को लेकर मेरे साथ मीटिंग की। मीटिंग में सेठ जी की कांस्य प्रतिमा लगाने के लिए हमने दस हजार रुपये देने की बात कही। पैसा हमसे नहीं लिया गया। सेठ जी की कांस्य प्रतिमा तो नहीं बल्कि प्रस्तर प्रतिमा जिसे त्रिलोकचंद्र सेठ ने बनवाई थी, वो लगी। बीच में सेठ जी की प्रतिमा बारह साल तक टूटी पड़ी रही फिर हमने लगवाई। फिलहाल प्रतिमा सुरक्षित है। लेकिन दुर्भाग्य देखिए उस पार्क का नाम मौजूदा मेयर उमेश गौतम ने बदलकर 'साउथ एशियन ग्लोरी पार्क' कर दिया। हमने कई जगह इसकी शिकायत की, ज्ञापन दिया। लेकिन हुआ कुछ नहीं। जबकि दामोदर स्वरूप सेठ के बारे में मैनपुरी केस के राजाराम भारतीय कहा करते थे कि मैंने अपने जीवन में दामोदर स्वरूप सेठ से ज्यादा कष्ट सहन करने वाला क्रांतिकारी नहीं देखा। अब जो यहाँ अपराध हो रहा है वो तो और बड़ा है। चौकी चौराहे पर से नेहरू की प्रतिमा हटा दी गई। ये बरेली की सबसे खूबसूरत प्रतिमा थी। बाकी तो सभी भौंडी लगी हुई हैं। सरदार पटेल की कोई सुंदर प्रतिमा बरेली में नहीं लगी है। एक सुंदर प्रतिमा वैज्ञानिक होमी जहाँगीर भाभा की बरेली कॉलेज के विज्ञान संकाय के परिसर में लगी हुई है और दूसरी नेहरू जी की। ये दोनों प्रतिमाएँ बोलती हुई लगती हैं।

इन दिनों साहित्य जगत में फैले आत्ममुग्धता, कटु प्रतिस्पर्धा, द्वेष और ओछेपन के वातावरण पर आप हताशा व्यक्त करते रहे हैं। पहले का वातावरण इससे कैसे भिन्न था? कुछ लेखकों, सम्पादकों से रहे आपके व्यवहार के निजी अनुभवों के आधार पर बताइये कि लोग कैसे दूसरे लेखकों को मदद और प्रोत्साहन देते थे?

वर्तमान साहित्यिक परिदृश्य मुझे अनेक बार चिन्तित करता है और हताश भी, लेकिन यह स्थिति मेरे काम में किसी तरह बाधक नहीं बनती बल्कि मैं अधिक उत्साह और संलग्नता से अपने मिशन के लिए प्रेरित होता रहता हूँ। मेरे लेखक के निर्माण बनारसीदास चतुर्वेदी, नारायण दत्त, विष्णु प्रभाकर, नागार्जुन, मन्मथनाथ गुप्त, डा. मुल्कराज आनन्द और हसंराज रहबर जैसे भिन्न विचारधारा से जुड़े लोगों का हाथ था। चतुर्वेदी जी अवश्य गांधी और रवीन्द्र से होते हुए 'शहीदों के श्राद्ध' के उपसंहार की ओर आए लेकिन विष्णु प्रभाकर तो गांधीवादी लेखक कहे जाने के बाद भी क्रांतिकारियों पर मेरे कार्य में बड़े सहयोगी बने। याद आता है कि विष्णु जी ने मेरे अनुरोध पर कर्मवीर पं. सुन्दरलाल पर अपनी संस्मृतियाँ मेरी पुस्तक के लिए लिपिबद्ध ही नहीं कीं बल्कि उन्होंने बनारस जाने पर वहां से बैजनाथ सिंह 'विनोद' का सुन्दरलाल जी पर आलेख लेकर उसे संशोधित करके मुझे भेजा। केरल के क्रांतिकारी बेलुथम्पी पर

अपना नाटक भेज कर विष्णु जी ने मुझे सुदूर प्रदेश तक विस्तारित क्रांतिकारी परम्पराओं से अवगत कराया जिन्हें जानना मेरे लेखन के लिए आवश्यक था। हंसराज रहबर भी मेरे अनन्य सहयोगी रहे लेकिन मेरे लेखक के निर्माण में सर्वाधिक योगदान मन्मथनाथ गुप्त का रहा। कह सकता हूँ कि 'नवनीत' और पीटीआई हिन्दी फीचर सेवा के सम्पादक आदरणीय नारायण दत्त मेरे प्रारम्भिक दिनों में मेरी रचनाओं को संशोधित कर प्रकाशित करते थे। यह एक तरह से भाषा और कहन के स्तर पर मेरे लिए प्रशिक्षण जैसा था। इसी तरह अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक डॉ. मुल्कराज आनन्द ने सुन्दरलाल पर मेरे कार्य में पर्याप्त मदद और सुझाव दिये। विष्णु चंद्र शर्मा और विद्यासागर नौटियाल के साथ भी मेरा ऐसा ही रिश्ता जुड़ा जो निरन्तर आत्मीयता में तब्दील होता चला गया। हंसराज रहबर से अनेक मुद्दों पर तीव्र मतभेद और बहसों के बावजूद वे मुझे बहुत प्यार करते थे। बाद के दिनों में 'मेरे सात जन्म' यानी नक्सलवाद तक पहुँचने के बाद उन्होंने 'भगतसिंह विचार मंच' का गठन किया, जिसे लेकर मैंने उन पर दो आलेख 'हंसराज रहबर : आठवें जन्म की तैयारी' और 'हंसराज रहबर : आठवाँ जन्म' लिपिबद्ध किए लेकिन यह सब हमारे मध्य कटुता का कारण नहीं बने, बल्कि हमारे सम्बन्ध निरन्तर प्रगाढ़ होते चले गए। कह सकता हूँ कि वैचारिक पक्षधरता का पाठ मुझे मन्मथनाथ और रहबर जी से ही सीखने को मिला। हाँ, यह अवश्य है कि 'भगतसिंह विचार मंच' में कार्य करने के लिए रहबर जी मुझसे अधिक आशान्वित थे जबकि मैं उन दिनों कठिन पारिवारिक परिस्थितियों के मध्य फँसा था जो मुझे उस कार्य में संलग्न होने की अनुमति नहीं दे रही थीं। हरिशंकर परसाई को भी गद्य लेखन में मैं अपना अध्यापक मान सकता हूँ। अब इस तरह के सहयोग और साथ चलने-रहने की स्थितियाँ हिन्दी में अनुपस्थित हो चली हैं। यह निश्चय ही विकट आत्ममुग्धता का दौर है जो सब तरफ व्याप्त हो चुका है। मैंने बार-बार कहा है कि मुझे अपने शुरुआती दिनों में प्रेरित करने वाले दादा बनारसी दास चतुर्वेदी थे। वे ही मुझे इस इलाके में लाये। याद करना जरूरी है कि मुझे विश्वम्भर नाथ पांडेय जैसे लोगों का भी बहुत स्नेह और आत्मीयता मिली है जिन्होंने मुझे 1981 में कर्मवीर पं. सुन्दरलाल जन्मशताब्दी समिति का महामंत्री बनाया।

मैं यह विस्मृत नहीं कर सकता कि 1987 के दिनों में ज्ञानरंजन जी का अचानक एक पत्र मेरे पास आया कि मुझे 'पहल' के लिए विशेष आलेख लिखना है। मैं तब उनकी इस पत्रिका में लिखने की सोच भी नहीं कर सकता था लेकिन उनका आग्रह देखकर मैंने संकोच के साथ स्वीकृति तो भेज दी लेकिन क्या लिखूँ, इसी उधेड़बुन में कई दिन गुजर गए। तभी फिर उनका पत्र आ गया। इस बार घबराकर मैंने झूठ कह दिया कि लेख आधा लिख लिया है जिसे पूरा करके देर से भेज सकूँगा। यह मेरा खालिस बहाना था 'पहल' में लिखने से बचने का। ऐसे में ज्ञान जी ने पुनः पत्र भेजकर मुझसे कहा कि उन्होंने अंक की सामग्री प्रेस में जाने से रोक ली है, मैं लेख पूरा करके भेजूँ। इसी गलत बयानी और कमोबेश घबराहट भरी मानसिकता के बीच मैंने साहस करके एक दीर्घ आलेख 'भगतसिंह की सुनें' को लिखना प्रारम्भ किया जिसे उन्होंने 'पहल' 37 में विशेष आलेख के रूप में प्रकाशित किया। इस लेख की खूब चर्चा हुई, जिसे बाद को जयपुर के साथियों ने जेराक्स करवा कर बहस के लिए लोगों को भेजकर वहाँ 'राजस्थान यूथ डेमोक्रेटिक फ्रंट' का गठन किया। तत्पश्चात 'निशांत नाट्य मंच' दिल्ली, 'लोक प्रकाशन गृह' दिल्ली तथा 'सीपीएम' पीलीभीत ने एक अंतराल पर इसकी पुस्तिकाएँ छापीं और बेचीं। मेरे लिए यह सन्तोष की बात है कि बाबा नागार्जुन इस लेख की टोन पर फिदा थे। उसके बाद तो ज्ञानरंजन जी ने 'सत्यभक्त, जिन्हें भारत के कम्युनिस्ट समझ नहीं सके' जैसे बहसतलब अनेक लेखों के साथ 'पहल' में मेरे आत्मकथ्य को भी जगह दी। यहाँ तक कि मेरी पत्नी के निधन पर उन्होंने अपनी प्रकाशकीय टिप्पणी में उनका उल्लेख करते हुए 'पहल' के एक अंक को कुछ अन्य दिवंगतों के साथ के साथ 'सरला विद्यार्थी की स्मृति को समर्पित' किया था। ज्ञान जी मेरे प्रति सदैव सदय रहे जबकि मैं एक छोटे शहर का लेखक था और मेरा जुड़ाव न तो उनके संगठन 'प्रलेस' से था और न ही मैं उनकी पत्रिका में किसी भी तरह

आर्थिक मददगार हो सकता था। यहाँ तक कि जब मैंने लघु पत्रिका 'संदर्श' का प्रकाशन शुरू किया तब तो उन्होंने मुझसे 'पहल' की वार्षिक सहयोग राशि लेने से भी मना कर दिया था। उन्होंने कलकत्ता में आयोजित 'लघु पत्रिका समन्वय समिति' की प्रारम्भिक बैठक में छह पत्रिकाओं में 'संदर्श' को जोड़ा जबकि मैं वहाँ अनुपस्थित था। एक नितान्त छोटे देहाती इलाके के सांस्कृतिक परिदृश्य पर लिखी गई मेरी एक पुस्तक 'पहचान बीसलपुर' की विस्तृत समीक्षा ज्ञानरंजन जी ने श्रीनारायण समीर से खास तौर पर 'पहल' के लिए लिखवायी थी।

मैं ऐसा ही कुछ बाद को 'जनसत्ता' के संपादक बने ओम थानवी जी के लिए भी कह सकता हूँ जिन्होंने इस अखबार का कार्यभार संभालते ही मुझे फोन करके पुनः वहाँ लिखने का आंग्रह किया था। आपको याद होगा कि 'रविवारी जनसत्ता' में उन्होंने मेरे कई आलेख कवर स्टोरी के रूप में प्रकाशित किए थे। मुझे खुशी हुई कि क्रांतिकारियों के हथियारों से सम्बन्धित मेरा एक लेख जब वहां रविवारी पृष्ठ पर छपा तो गिरिराज किशोर जी ने उसे तत्कालीन राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा पाटिल को उन ऐतिहासिक धरोहरों को संरक्षित किए जाने के लिए अपने पत्र के साथ संलग्न कर प्रेषित किया था।

सुधीर विद्यार्थी : परिचय एवं पुस्तकें

नाम : सुधीर विद्यार्थी। जन्म : 1 अक्टूबर 1953
जन्म-स्थान : गाँव भदारी, जिला पीलीभीत।
पैतृक घर : खुदागंज, जिला- शाहजहाँपुर।
शिक्षा : एम.ए (इतिहास)

कृतियाँ

1. अशफाक़ उल्ला और उनका युग--राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-2, प्रथम संस्करण 1991, दूसरा संस्करण-2011 (इस पुस्तक पर आधारित 'स्वराज' धारावाहिक डीडी-1 पर दो बार प्रसारित) बांग्ला अनुवाद- श्यामल मुखर्जी, प्रकाशक : नेशनल बुक एजेंसी, कोलकाता।
2. शहीद रोशनसिंह--यात्री प्रकाशन, सादतपुर, दिल्ली (पंजाबी अनुवाद--तर्क भारती प्रकाशन, [illegible])
3. उत्सर्ग--यात्री प्रकाशन, दिल्ली
4. भगतसिंह की सुनें--प्रथम संस्करण--निशांत नाट्य मंच, दिल्ली, द्वितीय संस्करण-राजस्थान यूथ डेमोक्रेटिक फ्रंट, जयपुर, तृतीय संस्करण--शहीद स्मारक निधि ट्रस्ट, बीसलपुर, उ.प्र., चतुर्थ संस्करण--लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली तथा पंजाबी में अनुवाद हरजिंदर, कपूरथला (पंजाब)
5. आमादेर विप्लवी--रामकृष्ण प्रकाशन, सावित्री सदन, तिलक चौक, विदिशा, म.प्र.
6. शहीद मौलवी अहमदउल्ला शाह, संदर्श प्रकाशन, सदर बाजार, शाहजहाँपुर
7. कर्मवीर पंडित सुन्दरलाल : कुछ संस्मरण--किताबघर प्रकाशन, पो. बॉक्स 7240, नई दिल्ली
8. काला पानी का ऐतिहासिक दस्तावेज (संपादित)--नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली- 110070
9. शहीद अशफाकउल्ला (चित्रांकन--विभास दास)- साउथ एशियन नेटवर्क फॉर आल्टर्नेटिव मीडिया, नई दिल्ली
10. अपराजेय योद्धा कुंवर भगवान सिंह--संदर्श प्रकाशन, बीसलपुर, पीलीभीत
11. मेरा राजहंस-संदर्श प्रकाशन, शाहजहाँपुर, दूसरा संस्करण- लोक प्रकाशन गृह, बी-131, सादतपुर, दिल्ली-110090 (इस आत्मकथात्मक संस्मरण की राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय तथा वीणापाणि, लखनऊ सहित देशभर में 40 एकल नाट्य प्रस्तुतियाँ तथा रंगकर्मी अखिलेश नारायण की ओर से पूर्ण नाटक का मंचीय प्रस्तुतीकरण)
12. हाशिया (व्यंग्य-संग्रह)--यात्री प्रकाशन, दिल्ली
13. पहचान बीसलपुर--संदर्श प्रकाशन, बीसलपुर-262201
14. अग्निपुंज, शहीद चन्द्रशेखर आजाद की 400 पृष्ठीय क्रांतिकारी कथा- 2007 पेपरबैक (2015)-राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
15. अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद-विश्वनाथ वैशम्पायन, संपादक--सुधीर विद्यार्थी-राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
16. शहीद भगतसिंह : इन्कलाब का सफर, जनसुलभ पेपरबैक्स, 193/21 सिविल लाइन्स, बरेली-243001
17. मेरे हिस्से का शहर--प्रतिमान प्रकाशन, सदर बाजार, शाहजहाँपुर-242001
18. शहीदों के हमसफर--लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली-110094 (पंजाबी अनुवाद बलवीर लोंगोवाल, पीपुल्स फोरम, पंजाब)

19. गदर पार्टी से भगतसिंह तक : शिवकुमार मिश्र (संपादन) लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली
20. शहीद भगतसिंह : क्रांति का साक्ष्य-राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2007) पेपरबैक संस्करण (2015 व 2017)
21. जब ज्योति जगी-सुखदेव राज, संपादक--सुधीर विद्यार्थी-राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
22. क्रांतिकारी बटुकेश्वर दत्त-लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली
23. आज का भारत और भगतसिंह--लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली
24. भगतसिंह के बहाने--लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली
25. जखीरे में शहादत--राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
26. क्रांति की इबारतें--राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (पंजाबी अनुवाद : तर्क भारती प्रकाशन, बरनाला)
27. कद्दावर की दास्तान--राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
28. शहर के भीतर शहर--प्रतिमान प्रकाशन, सदर बाजार, शाहजहाँपुर
29. दौरे--गुजिश्ता (संपादित)--लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली
30. फतेहगढ़ डायरी--लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली
31. बरेली : एक कोलाज--लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली
32. क्रान्तिकारी आंदोलन : एक पुनर्पाठ-'भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इंस्टिट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली
33. अशफाक़ उल्ला : डायरी और पत्र (संपादित)- लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली
34. रामप्रसाद बिस्मिल- लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली
35. क्रांति की विरासत-संवाद प्रकाशन, मेरठ-मुंबई
36. शहादतनामा-नयी किताब प्रकाशन, दिल्ली
37. जेल में तीस वर्ष--त्रैलोक्य नाथ चक्रवर्ती, भूमिका : सुधीर विद्यार्थी--संवाद प्रकाशन, मेरठ-मुंबई
38. अरुण वहिन-शांति (घोष) दास, भूमिका--सुधीर विद्यार्थी, संवाद प्रकाशन, मेरठ-मुंबई
39. समय के तलघर में शब्द--नयी किताब प्रकाशन, दिल्ली
40. शब्दों में बची है उम्मीद--नयी किताब प्रकाशन, दिल्ली
41. समय संवाद (पत्र संकलन) दो खंड-लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली
42. भीखमपुर की माटी (शहीद राजनारायण मिश्र की क्राति-कथा)--लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली
43. खुशबुएँ बोलती हैं (संस्मरण)--लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली
44. यादो में कस्बा--धर्मवीर भारती एवं सुधीर विद्यार्थी, नयी किताब प्रकाशन समूह, दिल्ली
45. विचार विनिमय--शचीन्द्रनाथ सान्याल, संपादक : सुधीर विद्यार्थी-नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली
46. शहीदे-वतन (संपादित) अशफाक़ उल्ला स्मृति समिति, शाहजहाँपुर (पंजाबी अनुवाद--बलवीर लोंगोवाल)
47. शहीद भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, महावीर सिंह,यतीन्द्रनाथ दास, मणीन्द्रनाथ बनर्जी पुस्तिकाएँ क्रमशः प्रतिमान प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रारूप प्रकाशन, इलाहाबाद तथा यात्री प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित
48. बंदी जीवन--शचीन्द्रनाथ सान्याल, भूमिका एवं प्रस्तुति--सुधीर विद्यार्थी, नयी किताब प्रकाशन, दिल्ली
49. विप्लव की स्मृतियों में (यात्रा संस्मरण)--नवारुण प्रकाशन, गाजियाबाद
50. शहर आईना है (बरेली डायरी)--अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
51. शहीदों के गाँव-न्यू वर्ल्ड पब्लिकेशन, दिल्ली

52. बटुकेश्वर दत्त : एक जिंदगीनामा--गार्गी प्रकाशन, दिल्ली
53. मैं क्रांतिकारी कैसे बना--पं. रामप्रसाद बिस्मिल (संपादित) अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
54. बंगलिया--अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
55. बिदाय दे मा--राजपाल एंड सन्स, दिल्ली
56. भूले-बिसरे क्रांतिकारी--नयी किताब प्रकाशन, दिल्ली
57. क्रांतिकारी की आत्मकथा--मन्मथनाथ गुप्त, संपादक--सुधीर विद्यार्थी, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
58. मन्मथनाथ गुप्त : पत्र और प्रतिबद्धताएँ--अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
59. भुवनेश्वर एकांकी और नाटक समग्र (संपादित)--अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
60. भुवनेश्वर : कहानी समग्र (संपादित)--अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
61. एक टूटी हुई नाव की तरह भुवनेश्वर संस्मरण (संपादित)--अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
62. इतिहास से गुजरते हुए--फिलहाल ट्रस्ट प्रकाशन, पटना
63. क्रांतिकारी इतिहास : दृश्य और अदृश्य (साक्षात्कार सुधीर विद्यार्थी) संपादक--शिवकुमार यादव--अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली
64. सुधीर विद्यार्थी : सृजन और सरोकार, संपादक--सुभाष चन्द्र--अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
65. साक्षात्कार : सुधीर विद्यार्थी, संपादक--सुभाष चन्द्र, सुनील कुमार (शीघ्र प्रकाश्य)
66. क्रातिकारियों के निशानात--प्रगति प्रकाशन, दिल्ली
67. दामोदर स्वरूप सेठ और साम्यवाद का बिगुल--सुधीर विद्यार्थी, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
68. क्रांति का स्त्री : स्वर महिला क्रांतिकारियों का आख्यान (शीघ्र प्रकाश्य)
69. दिल्ली में विप्लव (शीघ्र प्रकाश्य)

अन्य

* एनसीईआरटी की कक्षा 11की ऐच्छिक पुस्तक साहित्य मंजूषा में 'क्रांति की प्रतिमूर्ति : दुर्गा भाभी' तथा कक्षा-5 की पुस्तक में 'शहीद रोशनसिंह' लेख पाठ्यक्रम में सम्मिलित।
* विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा अनेक संस्थाओं व शहरों में क्रांतिकारी आन्दोलन के इतिहास पर व्याख्यान।
* शहीदों की स्मृति-रक्षा के लिए शाहजहाँपुर में शहीद रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाक़ उल्ला, रोशनसिंह व मौलवी अहमदउल्ला शाह के स्मारकों का निर्माण। शहीद अशफाक़ उल्ला की मजार का जीर्णोद्धार। पीलीभीत के उपनगर बीसलपुर में शहीद चन्द्रशेखर आजाद की प्रतिमा व पार्क की स्थापना। बरेली में क्रांतिकारी दामोदर स्वरूप सेठ की प्रतिमा व स्वतंत्रता सेनानी ठाकुर पृथ्वीराज सिंह उद्यान का निर्माण और केन्द्रीय कारागार बरेली में बारह व आगरा में दस तथा जिला जेल, बनारस में रहे तीन क्रांतिकारियों के नाम पर बैरकों द्वारों का नानकरण के साथ ही संगमरमर की परिचय पट्टिकाएँ एवं चित्र। नैनी (इलाहाबाद) के केन्द्रीय कारागार में क्रांतिकारियों की स्मृति-रक्षा का कार्य जारी। शहीद क्रांतिकारी प्रतापसिंह बारहठ के विशाल स्मारकका बरेली में निर्माण। विभिन्न क्रांतिकारियों व शहीद परिवारों को आर्थिक सहयोग।
* गदर पार्टी के क्रांतिकारी मौलाना बरकतउल्ला की कब्र की खोज अमरीका के सैक्रामैण्टो में।
* 1985 से साहित्य-विचार की लघु पत्रिका 'संदर्श' का संपादन व प्रकाशन।
* 'साथी' शाहजहाँपुर का 1981 में 'शहीद चन्द्रशेखर आजाद विशेषांक' का संपादन जिसका विमोचन आजाद की बलिदान अर्धशती पर इलाहाबाद के अल्फ्रेड़ पार्क में शहीद आजाद के साथियों ने किया।

* शहीद अशफाक़ उल्ला खाँ के जन्मशती वर्ष 2000 में पीलीभीत से शाहजहाँपुर तक सांस्कृतिक साइकिल यात्रा।
* 1979 में अखिल भारतीय क्रांतिकारी सम्मेलन का शाहजहाँपुर में आयोजन।
* 20 वर्षों तक नाटकों व नुक्कड़ नाटकों का निरन्तर संयोजन।
* देश की शीर्षस्थ पत्रिकाओं में सैकड़ों शोधपूर्ण आलेख प्रकाशित व देश भर में अनेक व्याख्यान।
* उत्तर प्रदेश के कर्मचारी-मजदूर आन्दोलन में 20 वर्षों तक सक्रिय हिस्सेदारी, प्रान्तीय नेतृत्व, अनेक मुकदमे तथा इसी के तहत दो बार जेल-यात्रा।

मूल्यांकन

1. 'सुधीर विद्यार्थी : व्यक्तित्व व कृतित्व' पर रुहेलखंड विश्वविद्यालय के अन्तर्गत कांति गंगवार द्वारा लघु शोध प्रबंध
2. जमीन को देखती आँखें (षष्ठिपूर्ति पर कविता भारत द्वारा संपादित पुस्तक)--2013--प्रतिमान प्रकाशन, शाहजहाँपुर
3. 'पाठ' पत्रिका विलासपुर (छत्तीसगढ़) का 'सुधीर विद्यार्थी पर केन्द्रित अक', जनवरी-मार्च 2018
4. क्रांतिकारी इतिहास और सुधीर विद्यार्थी--डॉ. उषा निगम, लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली
5. लेखन के लिए 'परिवेश सम्मान', 'नेता जी सुभाष शौर्य सम्मान, 'गणमित्र सम्मान', अयोध्याप्रसाद खत्री सम्मान, 'क्रातिकारी केसरीसिंह बारहठ सम्मान, मध्य प्रदेश संस्कृति विभाग का अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद सम्मान, 'वीरेन डंगवाल साहित्य सम्मान,राजस्थान का स्वतंत्रता सेनानी रामचन्द्र नन्दवाना सम्मान', उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का 'साहित्य भूषण' तथा सृजनात्मक गद्य के लिए 'शमशेर सम्मान'।

संपर्क :

6, फेज-5 विस्तार, पवन विहार
पो. रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली-243006
मो. : 9760875491 ईमेल : vidyarthisandarsh@gmail.com

साक्षात्कारकर्ताओं का परिचय

बिपिन तिवारी

पिछले पांच वर्षों से किताबी दुनिया यूट्यूब चौनल का संपादन और प्रसारण। साहित्य, सहित देश के विभिन्न विषयों के 70 से अधिक विद्वानों का साक्षात्कार। 2018 में 'संवेद' पत्रिका के 'अमृतलाल नागर विशेषांक' और 2024 में 'अभिनव कदम' पत्रिका के दो किसान विशेषांकों का संपादन। 'साहित्य की जनपक्षधरता' और 'महामारी और साहित्य' पुस्तकों का संपादन। पिछले 10 वर्षों से गोवा विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में अध्यापन।

ईमेल : bipin-tiwari@unigoa.ac.in
मो. : 9130570121

अभिषेक गुप्ता

शिक्षक और समीक्षक। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित।

ईमेल : abhishekguptji@gmail.com
मो. : 6386892652

रोहताश

गोवा विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में '21वीं सदी की हिंदी कहानियों में सांप्रदायिकता' विषय पर शोध कर रहे हैं।

ईमेल : rohtashkaushik94@gmail.com
मो. : 9812460183

संदीप मील को स्वयं प्रकाश स्मृति सम्मान
कहानी संग्रह 'बोल काश्तकार' का सम्मान के लिए चयन

दिल्ली। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में कार्यरत संस्थान 'स्वयं प्रकाश स्मृति न्यास' ने सुप्रसिद्ध साहित्यकार स्वयं प्रकाश की स्मृति में दिए जाने वाले वार्षिक सम्मान की घोषणा कर दी है। न्यास द्वारा जारी विज्ञप्ति में न्यास के अध्यक्ष डॉ. दुर्गाप्रसाद अग्रवाल ने बताया कि राष्ट्रीय स्तर का यह सम्मान इस बार कहानी विधा के लिए सुपरिचित कथाकार संदीप मील के कहानी संग्रह 'बोल काश्तकार' को दिया जाएगा।

सम्मान के लिए तीन सदस्यों के निर्णायक मंडल ने सर्वसम्मति से इस कहानी संग्रह को वर्ष 2025 के लिए चयनित करने की अनुशंसा की है। निर्णायक मंडल के अध्यक्ष प्रसिद्ध साहित्यकार अखिलेश (लखनऊ) ने अपनी संस्तुति में कहा कि संदीप मील युवा पीढ़ी के ऐसे विशिष्ट कथाकार हैं जिनके यहाँ मनुष्य विरोधी सत्ताओं की पहचान और मुखालिफत दोनों ही है। विशेष रूप से ग्रामीण जीवन के नए यथार्थ को जिस गहनता, प्रामाणिकता, संवेदनशीलता और पक्षधरता के साथ उन्होंने अभिव्यक्त किया है वह विरल है। निर्णायक मंडल के वरिष्ठ सदस्य कथा आलोचक राजीव कुमार (दरभंगा) ने संस्तुति में कहा कि शहरीकरण एवं बाजारीकरण के दबाव में हमारे समाज का एक बड़ा समूह कथा-परिदृश्य से किंचित ओझल होता जा रहा है, संदीप मील अपनी कहानियों में उन्हें शिद्दत से अभिव्यक्ति देते हैं। उनकी कहानियों में किसान एवं कामगार वर्ग प्रमुखता से जगह पाते हैं तथा इनके सामने दरपेश चुनौतियों को संदीप मील ने जनपक्षधर रूझान के साथ पेश किया है। निर्णायक मंडल के तीसरे सदस्य आलोचक पल्लव (दिल्ली) ने कहा कि कहानी के क्षेत्र में संदीप मील ने अपनी गंभीर पहचान बनाई है और वे कलात्मक ढंग से उन व्यापक मानवीय सरोकारों को कहानी में फिर प्रस्तुत करते हैं जिन्हें नयी बाजार व्यवस्था नष्ट कर देना चाहती है। मील ने अपनी कहानियों से लगातार पुष्ट किया है कि वंचितों और साधारण लोगों की आवाज अभी भी साहित्य में दर्ज की जा रही हैं।

संदीप मील के तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जो इस प्रकार हैं--दूजी मीरा, कोकिलाशास्त्र और बोल काश्तकार। हाल ही में 'समंदर भर रेत' नाम से उनका पहला उपन्यास प्रकाशित हुआ है। इनके अतिरिक्त एक बाल कहानी संग्रह और कुछ वैचारिक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। जनांदोलनों में सक्रियता के साथ मील ने राजनीति विज्ञान में डॉक्टरेट और पोस्ट डॉक्टरेट की है। मील की सक्रियता किसानों से लेकर संस्कृतिकर्मियों के बीच लगातार बनी रही है।

डॉ. अग्रवाल ने बताया कि मूलतः राजस्थान के अजमेर निवासी स्वयं प्रकाश हिंदी कथा साहित्य के क्षेत्र में मौलिक योगदान के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने ढाई सौ के आसपास कहानियाँ लिखीं और उनके पाँच उपन्यास भी प्रकाशित हुए थे। इनके अतिरिक्त नाटक, रेखाचित्र, संस्मरण, निबंध और बाल साहित्य में भी अपने अवदान के लिए स्वयं प्रकाश को हिंदी संसार में जाना जाता है। उन्हें भारत सरकार की साहित्य अकादेमी सहित देश भर की विभिन्न अकादमियों और संस्थाओं से अनेक पुरस्कार और सम्मान मिले थे। उनके लेखन पर अनेक विश्वविद्यालयों में शोध कार्य हुआ है तथा उनके साहित्य के मूल्यांकन की दृष्टि से अनेक पत्रिकाओं ने विशेषांक भी प्रकाशित किए हैं। 20 जनवरी 1947 को अपने ननिहाल इंदौर में जन्मे स्वयं प्रकाश का निधन कैंसर के कारण 7 दिसम्बर 2019 को हो गया था। लम्बे समय से वे भोपाल में निवास कर रहे थे और यहाँ से निकलने वाली पत्रिकाओं 'वसुधा' तथा 'चकमक' के सम्पादन से भी जुड़े रहे।

डॉ. अग्रवाल ने बताया कि फरवरी में आयोज्य समारोह में कथाकार संदीप मील को सम्मान में ग्यारह हजार रुपये, प्रशस्ति पत्र और शॉल भेंट किये जाएँगे। साहित्य और लोकतान्त्रिक विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए गठित स्वयं प्रकाश स्मृति न्यास में कवि राजेश जोशी (भोपाल), आलोचक दुर्गाप्रसाद अग्रवाल (जयपुर), कवि-आलोचक आशीष त्रिपाठी (बनारस), आलोचक पल्लव (दिल्ली), इंजी अंकिता सावंत (मुंबई) और अपूर्वा माथुर (दिल्ली) सदस्य हैं।

स्वयं प्रकाश स्मृति न्यास

393, कनिष्क अपार्टमेंट ब्लॉक सी एन्ड डी, शालीमार बाग दिल्ली-110088

अंक 48	आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और नवजागरण	30 रु. पृष्ठ संख्या 64
अंक 49	हमारे इब्बार रब्बी	30 रु. पृष्ठ संख्या 56
अंक 50	मृणाल पाण्डे विशेषांक	200 रु. पृष्ठ संख्या 348
अंक 51	राजेश जोशी विशेषांक	notnul.com पर उपलब्ध
अंक 52	रमेश कुंतल मेघ विशेषांक	notnul.com पर उपलब्ध
अंक 53	मध्यकालीन आख्यान विशेषांक	40 रु. पृष्ठ संख्या 52
अंक 54	उपन्यासों का समय	40 रु. पृष्ठ संख्या 80
अंक 55	नाटकों के प्रदेश में	40 रु. पृष्ठ संख्या 88
अंक 56	सामान्य अंक : कविता और कथेतर पर	100 रु. पृष्ठ संख्या 328
अंक 57	पुण्य स्मरण : कविवर त्रिलोचन	50 रु. पृष्ठ संख्या 104
अंक 58	कृति विशेष : बस्तर बस्तर	40 रु. पृष्ठ संख्या 96
अंक 59	कथेतर का समय	50 रु. पृष्ठ संख्या 112
अंक 60	कहानी का वर्तमान	40 रु. पृष्ठ संख्या 100
अंक 61	सामान्य अंक : समकालीन रचनाशीलता पर विशेष	100 रु. पृष्ठ संख्या 320
अंक 62	शताब्दी स्मरण : हरिशंकर परसाई	notnul.com पर उपलब्ध
अंक 63	नयी सदी में नामवर--2	100 रु. पृष्ठ संख्या 128
अंक 64	मध्यकालीन साहित्य और रांगेय राघव पर विशेष	100 रु. पृष्ठ संख्या 276
अंक 65	दलित ज्ञान की देशज परंपरा	30 रु. पृष्ठ संख्या 40
अंक 66	हिन्दी कोश परम्परा और रामचन्द्र वर्मा	40 रु. पृष्ठ संख्या 72
अंक 67	आलोचना का परिदृश्य	50 रु. पृष्ठ संख्या 104
अंक 68	सूफ़ी काव्य और समाज	50 रु. पृष्ठ संख्या 72
अंक 69	मध्यकालीन साहित्य का पाठ	50 रु. पृष्ठ संख्या 84
अंक 70	कवियों पर विशेष और अन्य सामग्री	100 रु. पृष्ठ संख्या 252
अंक 71	आई लव यू : असग़र वजाहत यात्रा अंक	30 रु. पृष्ठ संख्या 40
अंक 72	नाट्य चिन्तन के गति अवरोधक और अंधे मोड़	40 रु. पृष्ठ संख्या 52
अंक 73	कविता समय (तीन दर्जन नये संग्रहों पर विशद चर्चा)	125 रु. पृष्ठ संख्या 184
अंक 74	नज़ीर अकबराबादी का महत्त्व : विशेषांक	40 रु. पृष्ठ संख्या 76
अंक 75	शताब्दी कथाकार अमृतराय	40 रु. पृष्ठ संख्या 60
अंक 76	हिन्दी रंगमंच, पृथ्वी थिएटर और पृथ्वीराज कपूर	40 रु. पृष्ठ संख्या 60
अंक 77	दफ़ा-292 (अनूप त्रिवेदी का सम्पूर्ण नाटक)	40 रु. पृष्ठ संख्या 40
अंक 78	सामान्य अंक : विविध सामग्री	100 रु. पृष्ठ संख्या 256
अंक 79	सामान्य अंक : महाश्वेता देवी पर लेख और अन्य सामग्री	150 रु. पृष्ठ संख्या 224
अंक 80	नये लघु उपन्यास	50 रु. पृष्ठ संख्या 76
अंक 81	शैलेश मटियानी की कहानियाँ : संवेदना के विविध पक्ष	50 रु. पृष्ठ संख्या 76
अंक 82	शताब्दी स्मरण : अमरकान्त	200 रु. पृष्ठ संख्या 292
अंक 83	कस्बे का किस्सागो : पंकज मित्र विशेषांक	125 रु. पृष्ठ संख्या 148
अंक 84	विप्लव राग : सुधीर विद्यार्थी से संवाद	50 रु. पृष्ठ संख्या 80

Banaas Jan
393, Kanishka Apartment, C & D Block, Shalimar Bagh, Delhi - 110088